योगिराज श्रीकृष्ण

लेखक एवं प्रकाशक

धर्मपाल कपूर

बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.

कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

संस्करण : 2017
प्रतियाँ :

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

टंकण एवं साजसज्जा : **अभिनव इंटरप्राइजिज, मो. 94683 40497**
मुद्रक :

भूमिका

मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम और योगेश्वर श्रीकृष्ण दो ऐसे महापुरुष हुए हैं। दोनों ही राष्ट्र पुरुष एवं इतिहास पुरुष की दृष्टि से अद्वितीय हैं। पुरुषोत्तम दोनों हैं। आर्यत्व की दृष्टि से जीवन की उत्तमता की पराकाष्ठा तक ले जाने वाले दोनों ही महापुरुषों का जीवन अत्यंत श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है जिनसे युग-युगांतर तक समूची मानवता प्रेरणा एवं शिक्षा ग्रहण करती रहेगी क्योंकि दोनों ही महापुरुषों का जीवन पवित्र व पावन है। वस्तुतः श्रीराम मर्यादा पुरुषोत्तम हैं और श्रीकृष्ण आप्त पुरुष हैं।

कुछ पौराणिक भाइयों का विचार है कि श्रीकृष्ण परमात्मा के अवतार थे। पुराणों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण का जीवन अत्यंत कलंकित था। परन्तु मैंने योगिराज श्रीकृष्ण का जीवन महाभारत के आधार पर ही लिखा है। वस्तुतः महाभारतकार ने ही श्रीकृष्ण का जीवनचरित्र उचित व उज्ज्वल लिखा है न कि पुराणकार ने। श्रीकृष्ण वेदों के प्रकाण्ड पंडित, कुशल राजनीतिज्ञ, वीरयोद्धा, दूरदर्शी, धर्मात्मा, त्यागी, तपस्वी, सम्राट, निर्माता आदि गुणों से ओतप्रोत थे। वस्तुतः वे श्रीराम, आदिशंकराचार्य, महर्षि दयानंद स्वामी विवेकानंद आदि की भाँति महापुरुष थे। प्रस्तुत पुस्तक में मैंने संक्षिप्त में श्रीकृष्ण का जीवनचरित्र प्रस्तुत किया है।

लेकिन आप भी इस रूहानी गुलदस्ते रूपी योगिराज के संक्षिप्त जीवन के फलों को देखिये और झूम-झूम कर आनंद विभोर हो जाइए। प्रस्तुत पुस्तक को मैंने सच्ची लगन एवं कड़ी मेहनत के पश्चात् लिखा है ताकि इस महापुरुष के संस्कार नई पीढ़ी तक पहुँचे। इसी प्रेरणा से इस पुस्तक की रचना की गई है।

प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में मुझे सर्वश्री नरेन्द्र आहूजा 'विवेक' जी, रोशन लाल अग्रवाल जी, जय किशन जी, नरेश बंसल जी आदि ने सहयोग प्रदान किया है। अतः इन मित्रों का स्तवन न करना मेरी कृतघ्नता होगी। विशेषतः श्री नरेन्द्र आहूजा 'विवेक' जी ने इस पुस्तक के सम्पादन में विशेष योगदान दिया है। मुझे यह कहने में तनिक भी संकोच नहीं है कि इनके बिना प्रस्तुत पुस्तक का वर्तमान रूप में संयोजन न हो पाता।

जिस अचिंत्य शक्ति प्रभु की असीम अनुकम्पा से मैं अपने संकल्प को मूर्तरूप दे सका उसका भी मैं कोटि-कोटि धन्यवाद करता हूँ। मैंने प्रस्तुत पुस्तक के लिखने में पूर्ण सावधानी बरती है। परन्तु अल्पज्ञ एवं अपूर्ण होने के कारण फिर भी यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो पाठकगण से क्षमा चाहूँगा।

मैं उन सभी लेखकों एवं कृतिकर्त्ताओं का भी अत्यन्त धन्यवादी हूँ जिनकी कृतियों से संदर्भ उद्धृत किये गये हैं।

धर्म पाल कपूर

तिथि : 17.8.2015

(धर्मपाल कपूर)
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11, पंचकूला
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 0-9356301618

पुस्तक के विषय में

भारतीय समाज ने अपने जिन इतिहास प्रसिद्ध महापुरुषों के जीवन के इतिहास में अपभ्रशों को जोड़कर उनके उज्ज्वल जीवन चरित्र को कलंकित किया है उनमें योगेश्वर श्रीकृष्ण प्रथम स्थान पर आता है। योगेश्वर की उपाधि से विभूषित, गीता में ज्ञान, कर्म और भक्तियोग के सिद्धान्त देने वाले जिस महामानव को देव दयानन्द ने आप्तपुरुष की संज्ञा दी। उसी आप्तपुरुष श्रीकृष्ण को भारतीय समाज में माखन चोर, गोपियों से रास रचाने वाला बता कर कृतघ्नता का महापाप किया है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ने अनथक परिश्रम से योगेश्वर कृष्ण के उज्ज्वल जीवन चरित्र को सही स्वरूप में प्रस्तुत करने का सद्प्रयास किया है। वैदिक धर्मरक्षक, गीताज्ञान, प्रदाता, अखंड भारत के स्वप्न दृष्टा, चक्रधारी, महानयोगी स्थितप्रज्ञ, महाभारत युद्ध के रणनीतिकार श्रीकृष्ण के उज्ज्वल जीवनचरित्र से पाठक प्रेरणा लेकर अपने-अपने जीवन समर की समस्याओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं। योगिराज श्रीकृष्ण के जीवनचरित्र को दर्शाती यह पुस्तक निश्चित रूप से पाठकों के लिए एक संग्रहणीय, पठनीय और अनुकरणीय पुस्तक है। यह पुस्तक पाठकों के लिए जीवन की समस्याओं के समाधान के रूप में प्रस्तुत है।

अंत में पुस्तक के लेखक श्री धर्मपाल कपूर को उनके अनथक परिश्रम के लिए साधुवाद और परमपिता से उनके लिए उत्तम स्वास्थ्य की कामना ताकि वह भविष्य में भी इतिहास के पन्नों से ऐसे ही अनुकरणीय जीवन चरित्रों वैदिक सिद्धान्तों को बड़े सरल सहज शब्दों में हम सभी के सामने प्रस्तुत करते रहें ताकि आने वाली युवा पीढ़ी अपने सही इतिहास से परिचित हो सके और उस पर गौरव कर सके।

पुनः लेखक को कोटिशः साधुवाद।

नरेन्द्र आहूजा 'विवेक'
602 जी.एच. 53
सैक्टर 20, पंचकूला
मो. 09467608686

विशेष सूचना

1. स्वाध्याय, मनन और आत्मसात् ।
2. पाठकगण पुस्तक पढ़ने के पश्चात् किसी भी स्वाध्यायशील मित्र को इसे देने की कृपा करें ।
3. कोई भी जिज्ञासु अपनी इच्छानुसार इसकी प्रतियाँ फोटोस्टेट करवा कर स्वाध्यायशील मित्रों में प्रचार-प्रसार के लिये बाँट सकता है ।
4. पुस्तक केवल प्रचारार्थ लिखी गई है और सदुपयोग ही इसका मूल्य है ।
5. सर्वाधिकार लेखकाधीन ।

धर्मपाल कपूर
बी.ए. ऑनर्स, एम.ए.
कोठी नं. 1135, सैक्टर 11,
पंचकूला-134112 (हरियाणा)
फोन : 0172-2567845
मोबाइल : 9356301618

विषयसूची

क्र.सं.	विषय	पृष्ठ
1.	श्रीकृष्णजन्म की पृष्ठभूमि व कंस के मन का पाप	1
2.	श्रीकृष्णजन्म व वंशपरिचय	6
3.	बाल्यकाल एवं शिक्षा	12
4.	वृंदावनप्रस्थान एवं गोपाल कृष्ण	16
5.	कंस-वध	20
6.	जरासंघ के आक्रमण व द्वारका-प्रयाण	23
7.	श्रीकृष्णविवाह	25
8.	द्रौपदीस्वयंवर व श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसंवाद	31
9.	सुभद्रा का विवाह व खाण्डववन विजय	33
10.	द्वारका गमन एवं जरासंधवध	38
11.	शिशुपालवध एवं शाल्ववध	45
12.	पाण्डवप्रवास और महाभारत की तैयारियाँ	50
13.	संजय का दौत्य कर्म व श्रीकृष्ण का संधि उद्योग	57
14.	अर्जुन के सारथी व अर्जुनमोह	66
15.	भीष्म पर्व	69
16.	अभिमन्यु की वीरता व जयद्रथ वध	72
17.	घटोत्कच बलिदान व द्रोणवध	74
18.	अर्जुन का धर्म संकट व कर्णवध	76
19.	दुर्योधनवध	79
20.	अंतिम दृश्य	81
21.	युधिष्ठिर का राज्यभिषेक व अश्वमेध यज्ञ	83
22.	श्रीकृष्ण महाप्राण	86

योगेश्वर श्रीकृष्ण

(1)

श्रीकृष्णजन्म की पृष्ठभूमि व कंस के मन का पाप

द्वापर के अन्तिम चरण और कलियुग के प्रथम चरण का संक्रमण काल है। 'स्वार्गादपि गरीयसी' भारत माता का भाग्याकाश अज्ञान और अन्याय की काली-काली घटाओं से घिरा है। कभी शौर्य, सुषुमा और वैभव की नगरी मथुरा आज हतप्रभ हो पापी कंस के शासन से पद-दलित हो रही है। उसने अपने धर्मात्मा, प्रजा पालक पिता उग्रसेन को कारागार में डाल रखा है। कंस ने अपने दुराचारों से क्षत्रियत्व को बट्टा लगा दिया है। भाई-बन्धु, अमीर-ग़रीब, राजकर्मचारी और सम्पूर्ण प्रजा उसके अत्याचारों से आक्रान्त है।

दूसरी ओर जरासन्ध और शिशुपाल जैसे अन्यायी राजाओं ने प्रजा को दुःखी किया हुआ है। यह महान् भारत राष्ट्र छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त है। देश में सर्वत्र असन्तोष व्याप्त है। राह चलते कोई भी दो नागरिक इन्हीं अत्याचारी शासकों के प्रति अपना आक्रोश प्रकट करते मिलेंगे। पनघट से लौटती कोई भी दो देवियाँ इन्हीं विलासी और अत्याचारी शासकों के सर्वनाश की प्रभु से प्रार्थना करती हुई पाई जायेंगी। युग को एक युगनायक की प्रतीक्षा है। महान् भारत देश जैसे नेतृत्व-विहीन है। एक ऐसे जननायक की युग बाट जोह रहा है जो खण्ड-खण्ड भारत को 'महाभारत' बना सके जो मिटते हुए वर्णाश्रम धर्म की पुनः संस्थापना कर सके। देश का युवक वर्ग अपने भोग विलासी शासकों और उनके परिचारकों का आदर्श सामने रखकर पथ-भ्रष्ट हो रहा है। वह प्रत्यक्षवादी और नास्तिक बन रहा है दूसरी और अध्यात्म क्षेत्र में सांख्य और योग की उलझन भरी बातें कह कर देश को मिथ्या वैराग्य का पाठ पढ़ाया जा रहा है। देश को चाहिये एक ऐसा नेतृत्व जो अपने प्रभावी व्यक्तित्व और जीवनादर्श द्वारा ज्ञान,

कर्म और उपासना का समन्वय प्रस्तुत कर कर्मयोग की महत्ता का शंखनाद कर सके ।

देश को एक ऐसा सबल नेतृत्व चाहिये जो धर्म और राजनीति के बीच की खाई पाट सके, जो ब्राह्म-बल और क्षात्र-बल का, व्यक्तिवाद और समाजवाद का समन्वित आदर्श हो । जो एक ओर दुष्ट-दर्प-दलन द्वारा दुःशासन को मिटाकर सुशासन स्थापित कर सके तो दूसरी ओर धर्म के बाह्य-आडम्बरों को मिटाकर एक सच्चे धर्मोपदेशक के रूप में उस सुशासन को 'धर्मराज्य' ही बना सके । जन-मन आन्दोलित है, भूमिका तैयार है । निश्चय ही जन-जन की आत्म-पुकार किसी पुण्यात्मा के रूप में साकार होकर युगनायक को जन्म देगी । प्रभु की यही व्यवस्था है । वह अपनी पुत्र रूप प्रजा का यह करुण क्रन्दन, यह हाहाकार और अधिक सुन नही सकते । शीघ्र ही किसी मुक्तात्मा का अवतरण अवश्यम्भावी है । यह हो नहीं सकता कि अन्याय की ज्वालायें बढ़ती रहें और न्याय-निधान प्रभु अन्यायकारियों को दण्ड न दे ।

युगनायक, युगस्रष्टा, राष्ट्रपुरुष, जननेता आनन्दकंद श्रीकृष्णचन्द्र का जन्म युग की इसी आवश्यकता एवं भगवदीय व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम था । हर देश और हर काल में ऐसे धन्य जीवन महापुरुष जन्म लेते रहे हैं जो अपने देश और समाज की गरिमा को अपने महनीय चार चरितों से चार चाँद लगाते रहे हैं ।

मथुरा के राज मन्दिर का एक प्रकोष्ठ । एक एकान्त सन्ध्या । मथुराधिपति कंस के मन में विचारों का एक ताँता लगा है । अभिमान से उन्नतग्रीव वह सोच रहा है पिता कैद में बंद हैं दूसरे सभी सामन्त या तो मेरी तलवार का लोहा मान चुके हैं या फिर उन्हें स्वार्थ-सिद्धि का भी पूरा-पूरा अवसर होने से उनका मुँह बंद है । अपने इन्हीं सरदारों और सामन्तों के छलबल से प्रजा को इतना पीडित, शोषित, निर्बल और निःसत्व किया जा चुका है कि इच्छा न सही अनिच्छा से भी उसे मेरा ही

यशोगान करना होगा । अस्तु । कौन है जो मेरे अस्तित्व को चुनौती दे सके । परमात्मा ! अहह ! वह तो निठल्लों के मन बहलाव का साधन मात्र है, 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यही संसार का प्रत्यक्ष न्याय है । और 'खाओ, पीओ मौज करो' यही संसार की व्यवहार-नीति का सार है । जो मैं एक अखण्ड और निष्कण्टक राज्य का भोक्ता हूँ और इस स्थिति को किसी भी मूल्य पर किसी भी छल-बल और अटकल से बनाये रखना ही अपना जीवनोद्देश्य है ।

तभी—दुरभिमान से बोझिल ठीक उन्हीं क्षणों में कंस के मन में एक विचार कौंध आता है और मदोन्मत सम्राट् का मन और मस्तिष्क एक अज़ीब उदासी और विषाद से भर उठता है । रात आकर उस पर अपना आचरण डाल देती है । शैया पर लेटने और सो रहने का वह असफल प्रयत्न करता है । कंस की आँखों में नींद नहीं है । ''उह ! पगला कहीं का'' कंस बुदबुदाता है, ''देवकी, मेरी चचेरी बहिन ! वह कितनी अच्छी है, कितनी प्यारी और फिर वह तो निरी बालिका ही है ।'' परन्तु तभी उसका मन कहता है—इससे क्या हुआ ? यह नन्हीं बालिका शीघ्र ही सयानी होगी । इसका विवाह होगा । सन्तान होगी और वह संतान मेरे शासन की दावेदार बनेगी । और तब.....'' इसी ऊहापोह में पता नहीं कब कंस की झपकी लग जाती है और धर्मात्मा, पापी सभी को अपनी विशाल गोद में समान रूप से आश्रय देने वाली माँ-निद्रा कंस को आगोश में लेकर सुला देती है ।

कंस की चचेरी बहिन देवकी अब उसके निष्कण्टक राज्य का कण्टक बन चुकी थी । अपनी एक मात्र चचेरी बहिन देवकी को कंस बहुत प्यार करता था । मन के संदेह को वह भुलाने की चेष्टा करता तो बुद्धि अपना तर्क खड़ा कर देती कि आखिर ऐसा होना बहुत स्वाभाविक है जब कि कंस का भान्जा ही उसकी गद्दी का अधिकारी हो सकता था । उसके चापलूस अन्तरंग सलाहकारों ने उसके मन के सन्देह को और भी संपुष्ट कर दिया था । दिन बीतते गये और उसके

साथ कंस की चिंता बढ़ती गई। कंस ने कई बार सोचा कि देवकी का गला घोंट कर क्यों न निश्चित् हो जाऊँ। 'न रहेगा बांस न बजेगी बाँसुरी' परन्तु जब वह ऐसा विचारता देवकी के प्रति उसकी मूक ममता उसे रोक लेती।

आज देवकी का विवाह हो रहा है। शूरसेन पुत्र वसुदेव के साथ है। कैसी सुघड़ जोड़ी है। शोभा देखते ही बनती है। संस्कार की विधि पूर्ण हुई। वसुदेव-देवकी प्रस्थान करने लगते हैं। तो एक घोर संकट नहीं-नहीं साक्षात् मृत्यु की कल्पना से कंस का अन्तःकरण कराह उठता है। मन में पाप समा जाता है और कौशल के साथ मनोभावों को छिपाते हुए वह वसुदेव-देवकी का रथी बनकर उन्हें छोड़ आने का उपक्रम करता है। रथ आगे बढ़ने लगा। मृत्यु! मृत्यु!! मृत्यु!!! कंस के मन ओर मस्तिष्क पर मृत्यु छा जाती है। उसे लगता है कि जैसे कोई कह रहा हो—अब तेरी मृत्यु सन्निकट है। देवकी के गर्भ से उत्पन्न सन्तान के हाथों तेरी मृत्यु निश्चित है।

यकायक रथ खड़ा हो जाता हैं वह कुछ बड़बड़ा उठता है—देखता हूँ कौन मुझे मारता है? और दूसरे ही क्षण वह नर पिशाच अपनी ममतामयी बहिन को मारने को तैयार हो जाता है। आह रे मनुष्य के निम्न स्वार्थ! तू इस सृष्टि शृंगार मनुष्य को भी क्या-क्या नाच नचाता है? तेरे फन्दे में फँसे मनुष्य का संसार में कौन सगा रह जाता है? लोभान्ध पामर जन का हृदय उस मरुस्थली के समान होता है जिसमें प्रेम, स्नेह, करुणा और दया-धर्म की मन्दाकिनी सूख जाती है। व्यक्ति को स्वार्थ अंधा और पागल बना देता है।

कंस को यों पागल हुआ देख सौम्यता और साधुता के अवतार वसुदेव अपनी सद्यः परिणीता पत्नी के आगे आ जाते हैं और इस रहस्यमय स्थिति का कारण जानने की जिज्ञासा करते हैं। कंस अपनी

संदेह-कथा और उससे उत्पन्न अपनी दशा का वर्णन करते हुए चीख पड़ता है –'निष्कंटक राज्य! मुझे निष्कंटक राज्य चाहिये तो उसके कण्टक को दूर कर निर्भय क्यों न हो जाऊँ?'' और वह तलवार की ओर देखने लगता है।

राजन! आप विश्वास रखें हमारी संतान आपके राज्य को नहीं छुएगी।

पर इतना कहना मात्र समस्या का समाधान क्यों कर माना जा सकता है।

तब आप ही बतायें किसी मूल्य पर क्या देवकी की प्राण-रक्षा संभव है।

''हाँ उसका एक ही उपाय है। देवकी के गर्भ से उत्पन्न सभी सन्तानें जन्मते ही मेरे हवाले कर दी जावें ताकि मैं उन्हें यमलोक पहुँचा कर सुख की साँस ले सकूँ।''

देवकी यह सुनते ही बिलख पड़ी और वसुदेव ने उसे ढांढस दिया और प्रतिज्ञा की कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न सभी सन्तानें जन्म लेने के साथ क्रूर कंस के निर्दयी हाथों में सौंप दी जायेंगी। कंस के मन में भी बहिन के प्रति ममता तो थी ही वसुदेव की प्रतिज्ञा के साथ उसका उद्देश्य भी पूरा हो जाता था। उसने देवकी को छोड़ दिया परन्तु वसुदेव-देवकी अब कंस के कारागार के अतिथि थे। यद्यपि उन्हें सभी राजसी सुख-सुविधायें प्राप्त थीं। भोग-विलास, आमोद-प्रमोद और मित्र-मिलाप के सभी अवसर भी उन्हें उपलब्ध थे। सर्व सामान्य जनता में क्रूर कंस की क्रूरता और अत्याचार की यह कहानी कानों-कान फैल गई। सभी अपने मन-मंदिर में स्थित प्रभु से अपने इस पापी राजा के विनाश की कामना करने लगे।

(2)

कृष्णजन्म व वंशपरिचय

एक.....दो.....तीन और इस प्रकार देवकी ने 6 बार गर्भ धारण किया। हर बार माँ अपने नवजात शिशु को, हृदय में हाहाकार और आँखों में अविरल अश्रु भरे, क्रूर कंस के हाथों सौंप देती और वह नर पिशाच उन कोमल कलित कलिकाओं को जीवन के प्रथम प्रभात में ही प्रमर्दित कर डालता। हर बार माता-पिता दोनों और विशेष रूप से माता के मन का संताप बढ़ता गया यहाँ तक कि जब देवकी ने सातवीं बार गर्भ धारण किया तो शोक और संताप के तीव्र आवेग के कारण उसे 'गर्भपात' हो गया। देवकी बिलख पड़ी, वह अचेत हो गई। अब तक वसुदेव का धैर्य टूट चुका था, उसकी परीक्षा हो चुकी थी वे अब अधीर हो उठे। प्रतिज्ञा का तेज, संताप के प्रखर उत्ताप से पिघल उठा। वात्सल्य का ज्वार ठाठें मारने लगा, वसुदेव का मन डोल उठा। उन्होंने प्रतिज्ञा तोड़ने का निश्चय कर लिया। इतना ही नहीं मन ही मन उन्होंने निश्चय कर लिया कि देवकी के गर्भ से उत्पन्न अपनी आठवीं सन्तान की वे किसी भी मूल्य पर रक्षा करेंगे और उसको इस प्रकार से संस्कारित करेंगे, ऐसे वातावरण में पालित पोषित करेंगे, ऐसी शिक्षा-दीक्षा देंगे जिससे वह न केवल पापी कंस को यमलोक पहुँचा कर प्रजा को अभय दान दे सकें। वरन् सम्पूर्ण पृथ्वी के पाप ताप को मेटकर एक अखण्ड 'धर्मराज्य' की स्थापना कर सकें।

यह विचार मन में आते ही वसुदेव ने अपने परम मित्र नन्द गोप से मिलकर उसकी सम्पूर्ण योजना ही तैयार कर डाली और तब देवकी को आश्वस्त करते हुए वे बोले कि प्रिये, शांत हो। धैर्य धारो, अब तुम केवल एक बार और अन्तिम बार गर्भ धारण करोगी तथा अपनी इस अन्तिम संतति की हर कीमत पर—यहाँ तक कि अपनी प्रतिज्ञा भंग करके भी रक्षा करने का निश्चय मैंने कर लिया है और उन्होंने देवकी

को अपना समस्त मनोगत निवेदन कर दिया । देवकी ने अपने प्रियतम के चरणों में सिर झुका दिया..... । देवकी के पुनः गर्भ धारण के पूर्व ही वसुदेव को दूसरी पत्नी रोहिणी के एक सन्तान हुई । वसुदेव ने रोहिणी को अपने परम मित्र नन्द गोप के यहाँ गोकुल गाँव में भेज दिया । राजकुमार बलराम वहीं आकाश की छत और धरती के बिछौने पर उन्मुक्त वातावरण में पलने लगे ।

देवकी जब आठवीं बार गर्भवती हुई तो उसका मन अत्यंत उत्फुल्ल था । परन्तु उसने अपने मन की इस प्रसन्ता को अपनी बुद्धिमानी से किसी पर प्रकट नहीं होने दिया । वह नित्य प्रति ब्राह्म मुहूर्त में उठ कर वेद मंत्रों से ईश-प्रार्थना करती, यज्ञादि नित्यकर्म करती और अन्त में यह विदुषी देवी अन्तस्थ प्रभु के चरणों में विनय करती– हे परमात्मन्, देवादि देव ! हे अन्तर्यामिन् ! मुझ अभागिन के मन का कष्ट आपसे कुछ छिपा नहीं है । भगवन् ! मैं ही क्यों इस धरती का हर प्राणी एक सच्चे 'क्षत्रिय' के अभाव में आज अन्याय-ग्रस्त है । यह महान् आर्यावर्त खण्ड-खण्ड हुआ है । वर्णाश्रम धर्म नष्ट-विनष्ट हो रहा है । प्रभो ! कृपा करो, मेरी कोख से ऐसी वीर आत्मा को जन्म दो जो विद्या और बल सभी में अद्वितीय हो तथा जो अपने अद्‌भुत शौर्य, बल-विक्रम और विद्वता से धरती के पाप-शाप को मिटा सके ।

विदुषी देवकी न केवल प्रार्थना ही करती वरन् इस प्रार्थना को संकल्प मानकर वैसा ही आचरण भी करती । वह प्रभु भक्तिपरायण वीर पुरुषों के चरित्र पढ़ती, अपने पूज्य पतिदेव से वीर चरित्र अथवा वेदादि सत्य शास्त्रों की कथा सुनती, पूर्ण ब्रह्मचर्य और साधना का जीवन व्यतीत करती, स्वप्न में भी किसी प्रकार का विकार मन में न आने देती सर्वथा सात्विक आहार करती और शयन-जागरण आदि की निश्चित और नियमित दिनचर्या रखती । ज्यों-ज्यों उसके जननी बनने का समय निकट आता गया उसकी तपस्या, साधना और प्रभु-निष्ठा तीव्रतर होती गई । इधर वसुदेव ने अपनी सौम्यता, सद्‌व्यवहार और शालीनता से सभी जेल कर्मचारियों को अपना वशवर्ती बना लिया ।

उन्होंने वसुदेव को सहयोग करने का वचन दिया ।

भादों के कृष्ण पक्ष की तमसाछन्न रात्रि का द्वितीय प्रहर है । आकाश में छाई काली-काली घटायें इस विकट अन्धेरे को और भी काला बनाती हुई वातावरण के व्याप्त दुराशा, निराशा और भयावह एवं दुर्वह स्थिति का प्रतीक बनी हुई हैं । 12 बजे का घण्टानाद होता है । मानो निबिड़ अन्धकार की यह चरम सीमा है । ठीक उन्हीं क्षणों में आशा और जीवन की नव-ज्योति के समान विदुषी माता देवकी के उदर से हमारे चरित्र नायक, क्षात्र धर्म की प्रतिभूति, युग-पुरुष श्रीकृष्ण का जन्म होता है । जेल का वातावरण एक विचित्र उल्लास और आनंद से पुलकित हो उठता है । मतिमान् वसुदेव ने समय गँवाना ठीक नहीं समझा । बालक को मातृ-हृदय से अलग करते हुए वे बोले–

'हे देवी ! अधीर न हो, यह एक युग परिवर्तन की भूमिका है ।''

वे पूर्व नियोजित योजना के अनुसार बालक को एक टोकरी में रखकर चल पड़े, यमुना की तट की ओर । वसुदेव ने जेल के फाटक पार किये । प्रहरी कुछ बोले नहीं । उन्होंने उस ओर से आँखें बंद कर लीं । जागते हुए भी मानो सोते थे । वसुदेव अब मुख्य द्वार के बाहर हैं । आज उनका उत्साह और उल्लास चरम सीमा पर है । इसलिये नहीं कि प्रभु कृपा से आज वे अपनी प्राणप्रिय पत्नी देवकी की आठवीं संतान की रक्षा कर पायेंगे किन्तु उससे भी अधिक इस पावन सुविचार से वे एक युगनायक के पिता कहलाने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे । वसुदेव को गर्भस्थ बालक पर डाले गये वैदिक संस्कारों की प्रक्रिया और बालक को युगपुरुष के रूप में तैयार करने की भावी योजना में पूर्ण विश्वास जो था ।

मानव मन की कैसी महिमा है । कैसा अपार शक्तिशाली है यह मन । जब हमारे मन पर उदासी छाई हो तो सारी दुनियाँ हमें उदासी में डूबी हुई नजर आती है । हँसती हुई कलियाँ, मुसकराते फूल हमें काटने

को दौड़ते हैं। परन्तु जब कभी हमारे मन में उल्लास और उमंग हो सारी सृष्टि हमें संगीत अलापती अनुभव होती है। वसुदेव को लगा जैसे इस अँधेरी रात ने नव-वधू जैसा शृंगार किया हो। मेघ गर्जन और तड़ित तर्जन में उन्हें सामगान की स्वर लहरी सुनाई पड़ रही थी। लहलहाती हुई यमुना की उत्ताल तरंगों का वेग वसुदेव के अदम्य उत्साह की तरंगों के मुकाबले कुछ भी नहीं था और इसीलिये उन्हें लगा कि यमुना का वेग शान्त हो गया है, उसका जल उतर गया है। तूफानों को चुनौती देने वाले उत्साह को मन में संजोये वसुदेव ने यमुना में प्रवेश किया और यमुना की अपार जल राशि को उन्होंने बात की बात में बिना किसी थकान को अनुभव किये सहजतया पार कर लिया।

विशेष सूचना :

कुछ पौराणिक भाइयों का विचार है कि श्रीकृष्ण के जन्म लेते ही वसुदेव की हथकड़ियाँ और जेल के द्वार स्वतः ही खुल गये थे। परन्तु यह सत्य नहीं है। वस्तुतः जेल के पहरेदार कंस के अत्याचारों से अत्यधिक दुःखी थे और उन्हें देवकी एवं वसुदेव के प्रति सहानुभूति हो गई। इस कारण कंस का वध करने के लिए सभी पहरेदार श्रीकृष्ण को बचाना चाहते थे। अतः श्रीकृष्ण का जन्म होते ही उन्होंने वसुदेव की हथकड़ियाँ और जेल के द्वार खोल दिये ताकि श्रीकृष्ण को बचाया जा सके।

बिना एक क्षण विश्राम लिये वसुदेव पूर्व योजनानुसार अपने परम मित्र नन्दगोप के यहाँ बालक कृष्ण को पहुँचाकर नन्द-पत्नी यशोदा की सद्यः जात बालिका को लाकर देवकी के पास सुला देते हैं। जेल कर्मचारियों द्वारा सूचित किये जाने पर क्रूरता, हृदयहीनता और स्वार्थान्धता की प्रतिमूर्ति बना कंस देवकी के पास पहुँचता है और बहिन के रोने, गिड़गिड़ाने आदि की कोई चिंता न करते हुए वह नराधम वहीं उस नन्हीं बालिका को पृथ्वी से दे मारता है। ओह! मानव के निम्न स्वार्थ, तू मनुष्य को कैसा नाच-नचाता है? क्या ऐसे

मनुष्य को पशु कहना भी पशुत्व का अपमान करना नहीं है। ठीक ही लिखा है युग कवि मैथिलीशरण 'गुप्त' जी ने –

मैं मनुष्यता को सुरत्व की जननी भी कह सकता हूँ।
किन्तु दनुज को पशु कहना भी कभी नहीं सह सकता हूँ।

दुष्ट कंस! पाप ने तेरी आँखों पर पट्टी बाँध दी। सारी आर्य-मर्यादा को तूने मिट्टी में मिला दिया। इस अबोध बालिका के वध से तूने अपने को महा पाप का भागी बना लिया और यह न सोचा कि मृत्यु से कभी किसी का किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं है। जिस राज्य प्राप्ति के लिये तू ऐसे पाप कर रहा है, वह क्षणिक है परन्तु ऐसे घोर पाप से तेरी आत्मा घोर अधोगति को प्राप्त होता है। पाप से बढ़कर अन्धा करने वाली कोई दूसरी शक्ति जगत् में नहीं है। एक पाप को छिपाने के लिये मनुष्य को अनेक पाप करने पड़ते हैं। पाप बड़ा बली है, जो लोग पाप पर विजय नहीं करते उनको सदा खटका बना रहता है।

रस्सियाँ साँप बनकर इन्हें डसने दौड़ती हैं। सारा संसार उन्हें अपना शत्रु जैसा लगता है। जितना कोई सीधा तथा निष्कपट होता है उतना ही वह पापी उससे डरता है। अबोध बालकों को भी वह अपना शत्रु समझकर उनके वध पर कमर कस लेता है यहाँ तक कि उसके पाप का बोझ इतना भारी हो जाता है कि वह स्वयं उसी के बोझ से दबकर मर मिटता है। पाषाण हृदय कंस उस बालिका को मारकर लौटने लगता है, परन्तु स्वयं देवकी, वसुदेव और यहाँ तक कि जेल कर्मचारियों के चेहरों पर अंकित मूक व्यंग को वह कुछ-कुछ पढ़ पाता है उसको लगता है कुछ 'दाल में काला' है और उसका मन सन्देह से भरा-भरा रहता है।

श्रीकृष्ण यदुवंशी थे। यादव वंश के दो उपवंश हो गये थे– (1) वृष्णि (2) भोज। भोजों के फिर दो भेद हुए –(1) कुकुर (2) अन्धक। श्रीकृष्ण वृष्णियों में से थे। वृष्णियों के घरेलू व्यवहार का वर्णन महाभारत में इस प्रकार लिखा है–

वे वृद्धों की आज्ञा में चलते हैं। अपने भाई-बन्धुओं का अपमान नहीं करते। ब्राह्मण, गुरु और सजातीय के धन के प्रति अहिंसा वृत्ति रखते हैं। धनवान् होकर भी अभिमान रहित हैं। ब्रह्म के उपासक और सत्यवादी हैं। समर्थों का मान करते हैं और दोनों की सहायता कर देते हैं। सदा देवोपासना में रत, संयमी और दानशील रहते हैं। डींगें नहीं मारते। इसीलिये वृष्णि वीरों का राज्य नष्ट नहीं होता है।

द्रोण पर्व 144.24-28।

एक अन्य प्रसंग में वृष्णि वीर कहता है–

वह वृष्णि कुल में नहीं पैदा हुआ जो रण में पीठ दिखायेगा जो गिरे हुए पर आक्रमण करे या उस पर जो कहता है – मैं तेरा हूँ। या जो स्त्री-बच्चे या बूढ़े पर प्रहार करे। या रथ से विहीन गिर गये पर या उस पर जिसका शस्त्र टूट गया है। वनपर्व 18-13 व 14

ऐसे वंश और ऐसे स्थान को श्रीकृष्ण ने अपने देवोपम जन्म से सुशोभित किया। उनके जन्म का समय हमारी परम्परागत काल-गणना के अनुसार आज से 5000 वर्ष से अधिक का है।

(3)

बाल्यकाल एवं शिक्षा

श्रीकृष्ण के माता-पिता ने गर्भकाल से ही संस्कारित किया था। निष्ठापूर्ण प्रक्रिया का फल अवश्यम्भावी है। शिशु कृष्ण की शैशवक्रीड़ा भी उसके भावी शौर्य का प्रतिमान बन जाती है। श्रीकृष्ण अभी नन्हें बच्चे हैं, शैशवोचित भोलेपन ने राजसी सौंदर्य को और भी निखार दिया है। छवि देखते ही बनती है। पूतना दुष्ट स्वभाव की स्त्री है। उसे कोई सन्तान नहीं है। वह अपनी पड़ोसिन यशोदा का यह सौभाग्य देख नहीं सकती। उसके स्तनों में पस पड़ गया था। यह दुष्टा झट एक योजना बना लेती है। यशोदा घर के कामों में लगी है बालक को दुलराने के बहाने वह चुपके से पहुँचती है और श्रीकृष्ण को गोद में लेकर स्तन-पान कराने लगती है। चंचल बालक स्तन-पान के उपक्रम में स्तनों को मुख से बार-बार खींचता है। झटके के साथ स्तन की पस निकल जाती है। रक्त-स्राव होने लगता है। एक-दूसरे के झटके में ही रक्त-स्राव का वेग बहुत बढ़ जाता है। पूतना चीखें मार-मारकर वहीं मर जाती हैं। भीड़ जमा हो जाती है। चतुर लोगों को स्थिति समझते देर नहीं लगती। यों यह घटना ग्वाल मण्डली की चर्चा का विषय बन जाती है।

एक दिन माँ यशोदा इन्हें सोता छोड़ आप कपड़े धोने चली गई। ये पीछे जग गये। नटखट थे ही, लुढ़कते-लुढ़कते पास खड़ी गाड़ी के नीचे जा पड़े। क्षुधा लगी तो रोना आरंभ किया और साथ ही लगे लातें फेंकने। गाड़ी बिगड़ी हुई थी। सहारे से खड़ी होगी। लात लगने से उलट गई। गाड़ी में बर्तन थे वे टूट गये परन्तु इन्हें कोई चोट नहीं लगी। रो-धोकर ये पुनः सो गये। माँ जो लौटी तो प्रभु की लीला देख चकित रह गई। मन ही मन प्रभु को उसने शत-शत धन्यवाद किया।

प्रभु तेरी लीला अपरम्पार है। पुराणों के अनुसार तृणावर्त्त नामक राक्षस (कोई पक्षी या बवण्डर) एक दिन इन्हें ले उड़ा। परन्तु बोझ के कारण दूरी तक न जाकर गिर पड़ा। पक्षी तो मर गया परन्तु इनका बाल बाँका तक न हुआ।

समय जाते देर नहीं लगती। बालक के जन्म को एक वर्ष हो गया है। बालक को सु-संस्कारित करते रहने के लिए सतत जागरुक वसुदेव की प्रेरणा पर पुरोहित प्रवर गर्गाचार्य गोकुल आते हैं और दोनों बालकों का नामकरण संस्कार समारोह निष्पन्न होता हैं देवकी-पुत्र का नाम कृष्ण और रोहिणी-पुत्र का नाम बलराम रखा जाता है और कृष्ण-बलराम की यह जोड़ी ब्रज-वासियों की शोभा बन जाती हैं।

बाल-गोपाल प्रायः सभी चपल होते हैं। कृष्ण का बाल वात्सल्य तो प्रसिद्ध है। न जाने कितने कवियों ने कृष्ण की बाल-लीला के सौरस्य-चित्रण से अपनी लेखनी को धन्य किया है। बालक घुटनों चलने लगा है, वह धूलि धूसरित है, हाथ में लौनी और मुख में दही लगी है। सूरदास इस छवि पर रीझ जाते हैं। उनकी निखरी हुई, मंजी हुई तूलिका से उतारा गया यह चित्र कितना स्वाभाविक है–

सोभित कर नवनीत लिये।

घुटुरुन चलत रेनु तन मण्डित, मुख दधि-लेप किये।।

एक दो तो नहीं ऐसे सैकड़ों चित्र हैं, एक से एक बढ़कर जिनमें कृष्ण के बालहठ, हँसमुख स्वभाव, दधि माखन-भोज, गोचारण, ग्वालवेश, केलिक्रीड़ा, स्वर माधुर्य और वंशी-वादन की मनोरम झाँकियाँ हैं। बालक कृष्ण के इन सब गुणों ने मिल मिलाकर उस जंगली जाति को ऐसा मुग्ध कर लिया था कि वे उनके भक्त हो गये थे। क्यों न हो? आखिरकार वह राजपुत्र ही तो था। चेहरे पर से सरदारी टपकती थी। कृष्ण ने गडरियों चरवाहों, किसानों तथा जमींदारों के बीच ऐसे गुण प्रगट किये जिससे प्रत्येक छोटा बड़ा उनकी ओर आकर्षित होने लगा।

समय के परिवर्तन ने उन्हें राजप्रासादों के बदले खानाबदोशों के फूस की झोंपड़ियों का मुँह दिखलाया। सुन्दर-सुन्दर सवारियों के स्थान में छकड़े की सवारी दी। धनुष बाण तथा ढाल तलवार के बदले गाय हाँफने का डंडा हाथों में पकड़ाया। बहुमूल्यवान सुन्दर-सुन्दर वस्त्राभूषण न देकर तन ढकने को एक लंगोटी दी। शस्त्र-विद्या से युद्ध करने की शिक्षा की अपेक्षा वन्य पशुओं से मल्ल युद्ध करना सिखाया और संगीतशास्त्रज्ञों से शिक्षा न दिला कर देहाती वंशी पर संतोष कराया। कुटिल काल ! तू बड़ा प्रबल है तेरे हथकंडों से न कोई बचा है और न बचेगा।

परन्तु ये उपरोक्त बातें उन्हें ऐसी पसन्द आईं और उन्होंने अपनी विपत्ति से ऐसा लाभ उठाया कि उन सब कठिनाइयों ने उनकी स्वाभाविक सौजन्यता तथा जातीय कुलीनता को और भी निर्मल बना दिया। सच में तो उनके जीवन का यह अभिशाप वरदान ही बन गया। इस प्रसंग में युग कवि मैथिलीशरण गुप्त जी की ये पंक्तियाँ सहज ही स्मरण होती हैं–

जितने कष्ट कंटकों में है जिनका जीवन सुमन खिला।
गौरव-गन्ध उन्हें उतना ही यत्र-तत्र सर्वत्र मिला।।

वसुदेव का बुद्धि-कौशल इन सम्पूर्ण स्थितियों के पीछे युग के महापुरुष के निर्माण की भूमिका तैयार कर रहा था। अब श्रीकृष्ण कुछ बड़े हो गये हैं। वसुदेव को उनकी राजपुत्रोचित शास्त्रीय शिक्षा का ध्यान है। एक निश्चित् योजनानुसार कृष्ण-बलदेव की शिक्षा का प्रबन्ध गोकुल ही के पास किया गया। कृष्ण और बलदेव की आयु में कुछ महीनों का ही अन्तर था, एक साथ पले और एक साथ ही बड़े हुए थे। इनकी शिक्षा भी एक साथ होने लगी।

समय आया जब दोनों स्नातक हो गये। दोनों भाई शारीरिक बल में अतुलनीय थे। कृष्ण वेद-वेदांग के भी अद्वितीय पण्डित हुए।

फिर दान, दया, बुद्धि, शूरता, शालीनता, चतुराई, नम्रता, तेजस्विता, धैर्य, सन्तोष, सभी गुणों में इन्होंने अनुपम ख्याति प्राप्त हुई। शस्त्रास्त्र चलाने में दोनों भाई निपुण थे। इस विद्या की शिक्षा ये आगे चलकर औरों को भी देते रहे। युद्ध-विद्या की कुछ एक महत्वपूर्ण शाखाओं के ये विशेष आचार्य समझे जाते थे। पढ़ते गुरुकुल में थे, परन्तु साथ लगते ग्रामों के जीवन में लगे हाथ भाग लेते ही रहते थे। गोकुल के लोगों को इन्होंने कई बार बड़ी भयंकर आपत्तियों से बचाया। श्रीकृष्ण का गुरु कौन था इस विषय में महाभारत चुप है। पुराणों में सन्दीपन को इनका गुरु बताया गया है, परन्तु उसके पास ये केवल 64 दिन ही रहे और विष्णु पुराण के कथानुसार उनसे केवल धनुर्वेद सीखा।

एक बार एक बड़ा बैल पागल हो गया। वह गौवों के लिए मानों मूर्त यम बना हुआ था। आँखें लाल-लाल, सींग कसे हुए। खुरों से धरती को उखाड़ता फिरता था। जिह्वा बाहर लटकाये हुए होठों को दबाता और चाटता था। निर्धन ग्वालों की जान पर आ बनी थी। कृष्ण को पता लगा तो वे झट वहाँ पहुँचे और अपनी बलवान भुजाओं से पकड़ कर उस वृषासुर को उन्होंने नीचे पटक दिया और गिराकर झट मार डाला। इस बैल का नाम अरिष्ट था। ऐसे ही केशी नाम का लम्बे-लम्बे बालों वाला घोड़ा यमुना के जंगल में फिरता था। वह बड़ा मोटा ताजा परन्तु नितान्त बनेला था। किसी को पास न आने देता था। आते-जाते पर दौड़ता था। खुरों से पृथ्वी को खोदता था। कृष्ण उसके पास गये तो वह उन पर झपटा। इन्होंने उसे भी निहत्थे ही मार गिराया। इससे इनका नाम केशिसूदन हुआ।

(4)

वृन्दावनप्रस्थान एवं गोपाल कृष्ण

इसके कुछ समय पूर्व गोकुल में भेड़िये आ पड़े थे। उनसे ग्वालों को बहुत कष्ट होता था। कृष्ण ने गोपों को समझा कर उनसे गोकुल छुड़वा दिया और उन्हें वृन्दावन में जा बसाया। ग्वालों की सम्पत्ति गायें ही तो थीं। उन्हें हांका और छकड़ों पर सामान लादकर दूसरे स्थान में जा बसे, जो अधिक सुरक्षित था। स्थान का यह परिवर्तन हर एक प्रकार से कृष्ण के अनुकूल हुआ। उनकी वंशी की सुरीली गूँज से सारा वृन्दावन गूँजने लगा। निकटस्थ वन-वाटिका का कोई स्थान भी कृष्ण और उनके साथियों से छिपा न रहा। जहाँ लहलहाती हरियाली देखते वहीं गौवें हाँक ले जाते। गौवें हरी घासों से पेट भरती और आनन्दपूर्वक स्वच्छ वायु में अठखेलियां करतीं। दूसरी तरफ ये लड़के किसी छाया में बैठ गाने बजाने का आनन्द लूटते। सन्ध्या को अपनी गौवें हाँकते हुए अपने ग्राम में आ जाते। युवा और बालक तो कृष्ण की वंशी पर ऐसे मुग्ध थे कि जब वह वंशी बजाते तो इनके दल के दल एक वृत्त बना कर उसके गिर्द उछलते और चक्कर लगाते और शेष सब तमाशा देखते।

जंगल में जब कभी कोई बनैला पशु मिल जाता तो सबके सब मिलकर उसका पीछा करते और या तो उसको मार डालते या भगा देते। एक दिन कृष्ण और बलराम अपने साथियों सहित गौवें चराते फिर रहे थे। साथियों में से किसी लड़के ने कहा कि इस वन में एक जगह खजूरों का कुंज है जिसमें बड़ी-बड़ी और मीठी खजूरें लगी हुई हैं। परन्तु उस कुंज के मध्य भाग में एक भयंकर पशु है जिसके भय से वहाँ कोई नहीं जाता। यह सुन कृष्ण और बलराम वहाँ जाने पर तत्पर हो गये और वहाँ जाकर ईंट और पत्थर चलाने लगे। ईंट और पत्थर की भरमार से वह पशु चौंक पड़ा और भयभीत हो बाहर निकला

(पुराणों में इस पशु का नाम धेनुक है, और शकल गदहे की लिखी है) और जब वह सामने आया तो लड़कों ने उस पर ढेलों की वर्षा आरम्भ कर दी। जिसके आघात से वह शीघ्र ही मर गया। पुराण इस कर्म का सेहरा बलराम के सर पर बाँधते हैं क्योंकि इस लड़ाई में बलराम ने सबसे अधिक भाग लिया और उन्हीं की मारी चोटों से धेनुक घायल होकर गिर पड़ा।

फिर एक लड़ाई कालिया नाग से हुई। कहते हैं कि यमुना के एक भाग में जहाँ एक झील सी बनी थी कालिया नामक एक नाग रहता था जिसके भय से कोई उधर फटकने नहीं पाता था। कृष्ण एक दिन संयोग से वहाँ जा पहुँचे और कालिया ने उन्हें आ घेरा। कृष्ण उससे भिड़ गये और कुछ देर युद्ध हो जाने पर कालिया घायल होकर भाग निकला। इसके दो अर्थ हो सकते हैं– पहला यह कि यमुना के किसी भाग में ''कालिया'' नामक कोई सर्प रहा हो और कृष्ण ने उसे वहाँ से भगा दिया। दूसरा यह कि नाग वंश को कोई सरदार ''कालिया'' नामक वहाँ रहता था। जो गोपों को कुछ हानि पहुँचाता था, कृष्ण ने इस सरदार को लड़ाई में पराजित कर उसे जंगल से भगा दिया हो। मि० पाल यही अर्थ लगाते हैं क्योंकि पुराणों में कालिया को मनुष्य माना है और उसकी स्त्रियों के कान की बालियों तथा दूसरे आभूषणों का वर्णन है।

पुराणों में इन्हीं घटनाओं का अमानुषीय रूप में वर्णन किया गया है। और उन पशुओं को ''दैत्य'' या ''राक्षस'' लिखा है परन्तु हमें तो इनमें कोई ऐसी असाधारण बात नहीं मालूम देती जो हमें इन घटनाओं को अमानुषीय मानने में तनिक भी मजबूर करे। गाँव में पशु चराने वाले लड़कों से प्रत्येक दिन ऐसी घटनायें हुआ करती हैं। ग्रामीण बालकों के हाथ से बाज, जंगली जानवरों का मारा जाना कोई ऐसी असम्भव बात नहीं जिस पर अधिक आश्चर्य करने की आवश्यकता हो। ग्रामीण बालकों की मण्डली में गडरिये और ग्वालों के बच्चों में क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजकुमार कृष्ण और बलराम की पदवी

पा लेना कौन-सी बड़ी बात थी ।

गो-पालन और गो-रक्षण कृष्ण का सर्वाधिक प्रियकर्म था । गाय उनके निकट धन सम्पत्ति, सखा-सहचर सब कुछ थीं । गायों और गोपों को हिंसक जन्तुओं से बचा कर और ग्वाल बालों को तालफल खिलाकर कृष्ण बलदेव गाँव भर के दुलारे बन गये । इतने में गोपों का एक उत्सव आ गया । उस उत्सव में वे पुरानी प्रथा के अनुसार कृषियज्ञ किया करते थे । संभवतः उनके पूर्वज कभी कृषक रहे होंगे । परन्तु अब उनका धंधा गोपालन था । कृष्ण ने उन्हें समझाया, ''अब हमें हल और जुए की पूजा से क्या लेना ? हमारे देवता तो अब गायें हैं या गोवर्धन पर्वत । गोवर्धन पर घास होती है । उसे गायें खाती हैं और दूध देती हैं । कृषि से तो हमारा गुजारा नहीं चलता है । चलो गोवर्धन और गौओं का यज्ञ करें । गोवर्धन का यज्ञ यह है कि उत्सव के दिन सारी बस्ती को वहीं ले चलें । वहाँ होम करें । ब्राह्मणों को भोजन दें । स्वयं खायें, औरों को खिलायें । कार्त्तिक का महीना है । पहाड़ फूलों से लद रहा है । हम इन फूलों से गायों को सजाएँ । इन्हें फिराएँ, खिलाएँ, घुमाएँ । यह गौओं की पूजा है । ग्वालों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार किया । इस यज्ञ के ऋत्विक कृष्ण हुए । (इस पुण्य घटना के स्मरण में गोपाष्टमी का उत्सव अब भी मनाया जाता है ।)

इसके कुछ समय उपरांत वृन्दावन में बड़ी वर्षा हुई । नदी नाले सब ओर से भर-भर कर बहने लगे । यमुना में बाढ़ आ गई और ग्वालों का बस्ती में रहना असम्भव हो गया । कृष्ण जी सभी कष्टों में ग्राम वालों के आड़े आते थे, इस समय भी उनकी एकमात्र ओट बनी । सारी बस्ती की बस्ती को गाँव से निकाल कर उसी गोवर्धन पर्वत पर चले । पर्वत की खुदाई कराई गई । वृक्ष गिराये गये । सांप, बिच्छू, चीता आदि हिंसक वस्तुओं से वन को खाली किया गया और सारी बस्ती को गायों के गल्ले समेत वहीं आवास करा दिया गया । सात दिन लगातार वर्षा होती रही । कृष्ण ने अपना डेरा इसी आवास में जा लगाया । ये

गोपों की छावनी को संभाले रात-दिन वहीं डटे रहे। यही इनका गोवर्धन का उठाना था। सचमुच उन दिनों सारा आवास ही-या यों कहिए कि सारा पर्वत ही इनकी हथेली पर थमा खड़ा था। वर्षा थमी, बाढ़ उतरी, गोप-गोपियों ने कृष्ण को मानों अपनी आनन्द से भरी, मूक धन्यवादों से परिपूर्ण, आँखों में बिठा लिया। कृष्ण गाँव भर की आँखों के तारे हो गये।

इस कड़े काल में यादववीर की बुद्धि, यादववीर का साहस, यादववीर का परिश्रम, उनको अपना, अपने बच्चों तथा गायों का प्राणदाता प्रतीत हो रहा था। वे सौ जान से वृष्णिवीर पर न्यौछावर होने वाले लगे। श्रीकृष्ण ने गोवर्धन की गोदी में पाई तो शिक्षा ही थी परन्तु अपने चारित्र्य बल से आस-पास की बस्ती को अपना श्रद्धालु शिष्य-अनन्य भक्त बना लिया था। गोवर्धन की तलहटी अब सचमुच उनकी हथेली पर नाचती थी। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' के अनुसार प्रायः सभी महापुरुषों की भाँति बाल्यावस्था में ही कृष्ण में भी महापुरुषत्व के लक्षण प्रकट होने लगे थे उनके सहचर गोप-गोपियों की कृष्ण के लोक-सेवक रूप के प्रति जो आस्था थी—'प्रिय प्रवास' के कर्ता 'हरिऔध' जी ने उसका बड़ा सजीव चित्रण किया है। कृष्ण संदेश लेकर उद्धव ब्रजभूमि में पहुँचे हैं। सभी कृष्ण की विविध बाल-लीलाओं का बखान कर रहे हैं। वस्तुतः गोवर्धन धारण की कहानी कपोल कल्पित है।

(5)

कंस-वध

श्रीकृष्ण अब तक स्नातक हो चुके थे। उनकी विद्या, बल, वीरता, निर्भयता, सेवा-भाव, परोपकार आदि गुणों और रूप माधुरी की सुगन्धि अब सर्वत्र व्यापने लगी। उनके कपोल और विशाल नेत्र पुकार कर कहते थे ये दोनों युवक जन्म से गोप नहीं हैं न दूध, दही, मक्खन विक्रय इनकी जीविका है। संदिग्ध हृदय कंस तक भी यह बात पहुँचती है। विष्णु पुराण के अनुसार नारदजी ने कंस को बहकाया कि वे दोनों लड़के वसुदेव के हैं। इधर तो कंस को यों बहकाया कि जब तक ये दोनों लड़के जीवित हैं तब तक तेरा राज्य सुरक्षित नहीं उधर कृष्ण और बलराम को बदला लेने पर तत्पर किया। परन्तु हम विश्वास नहीं करते कि नारद सचमुच में कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है अपितु हमारा अब भी यही विचार है कि नारद वही कल्पित व्यक्ति है जिसके द्वारा पौराणिक लोग लड़ाई-भिड़ाई का शौक पूरा करते हैं।

तुरन्त ही यह शंका कंस के मन में घर कर लेती है कि हो न हो ये दोनों वीर बालक वसुदेव के हैं जो छिपे तौर पर गोपों में पाले जाते रहे हैं। कंस अब इस उधेड़बुन में लग गया कि किस तरह उन्हें मरवा डाले। अन्ततः उसने एक योजना बनाई। चतुर्दशी के लिए जो दंगल शक्ति-परीक्षा, कुश्ती लड़ने, तीर और भाला चलाने के लिये हुआ करता था उसमें कृष्ण और बलराम को गोप सरदार के साथ आमंत्रित किया गया। यादव वंश के एक पक्ष के मान्य अक्रूर को इस कार्य के लिए वृन्दावन भेजा गया। उन्हें कंस ने मनोगत अभिप्राय बता दिया था। परन्तु जब अक्रूर कृष्ण के सम्पर्क में आये तो कृष्ण आकर्षक व्यक्तित्व और व्यवहार कुशलता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने कृष्ण को यादवों की एकता का वचन दिया तथा कंस का दुष्ट मनोभाव भी कृष्ण पर प्रकट कर दिया।

यादवों में परस्पर फूट थी। कंस के दादा आहुक और वृष्णियों में बड़े अक्रूर ने यादवों के दो दल बना रखे थे जो कंस के विरोध में भी

एक नहीं हो पाते थे। यादवों की इस फूट के बल पर ही संघ-शासन की जगह जरासंध समर्थित कंस का निरंकुश राज्य मथुरा में था। कृष्ण ने उन दोनों को मिला देने का एक अनूठा ढंग निकाला। आहुक की लड़की सुननू का अक्रूर से विवाह करा दिया। कृष्ण का राजनैतिक जगत् में यह प्रथम प्रवेश था।

कृष्ण तो मानो इसके लिए ही तैयार किये गये थे, संस्कारित किये गये थे। शाही महलों में न पलकर प्रकृति के प्रासादों में वे पले थे। जंगली जानवरों के पड़ोस में प्रकृति ने उन्हें उस दृढ़ता, कठोरता की शिक्षा दी जो दुष्टों के वध के लिये बहुत आवश्यक है। गुरुकुल की शिक्षा के साथ ही व्यावहारिक रूप में सारी बाल्यावस्था में यह यही शिक्षा पाते रहे कि अपने शत्रु पर दया करना धर्म नहीं। अतः कंस का मनोगत जानकर कृष्ण-बलराम ने भयभीत तो क्या होना था, उनका उत्साह कई गुना बढ़ गया। अक्रूर के साथ गोप-मण्डली सहित वे मथुरा को चल दिये। उधर कंस ने योजना की हुई थी कि जिस समय कृष्ण और बलराम दंगल में पैर रखें उसी समय एक मस्त हाथी उन पर छोड़ दिया जाये। यदि उससे भी बच निकलें फिर राज्य के दो प्रसिद्ध मल्लों से मल्ल युद्ध में इन दोनों को मरवा दिया जाये।

संसार के इतिहास में कंस जैसे सैकड़ों अत्याचारियों का पता चलता है जिन्होंने राज्य के लिये अपने वंश का विध्वंस कर डाला था। उनके क्रूर खडग ने न तो बच्चे को छोड़ा है और न बूढ़े को जिन्होंने इसी तरह अपने किसी वीर शत्रु से छुटकारा पाने के लिये शेर या किसी हाथी से उनका मल्लयुद्ध कराया है। कर्नल टाड ने ऐसी अनेक कहानियाँ लिखी हैं उनमें से एक मुकुन्ददास राठौर की है जिसको औरंगजेब ने जीवित शेर के पिंजरे में बंद कर दिया था। जंगल का शेर राजपूतनी के बच्चे से आँख न लड़ा सका और मुकुन्ददास सही सलामत पिंजरे से निकल आया। इसी तरह पृथ्वीराज राजपूत पर शेर छोड़ा गया। वह भी अकेला बिना किसी शस्त्र के शेर पर विजयी हुआ।

परन्तु 'मेरे मन कछु और है विधिना के कछु और।' दुष्ट कंस को क्या पता था कि उसकी यह योजना स्वयं उसके अपने प्राणों का

ग्राहक सिद्ध होगी। अक्रूर बलराम-कृष्ण को मथुरा लिवा लाया। इन्होंने रंग-भूमि में पहुँचने के साथ ही सबके देखते-देखते कंस के सिखाये हुए हाथी कुवलयापीड़ और प्रसिद्ध चाणूर और मुष्टिक को मार गिराया। मथुरा प्रवेश के साथ ही धोबी वध और कुब्जा-लीला का प्रसंग पुराणों में है। यद्यपि दोनों ही घटनायें निर्मूल हैं। परन्तु कुब्जा-लीला तो सर्वथा असम्बद्ध, असम्भव और पाप मूलक है। विष्णु पुराण में इसका वर्णन अधिक निन्दा के योग्य नहीं है। कुब्जा ने कृष्ण-मिलन से अपने को सुन्दरी होते देख कृष्ण से अपने घर चलने की प्रार्थना की। कृष्ण हँसते-हँसते लौट गये। विष्णु पुराण में इतना ही है, परन्तु भागवतकार और ब्रह्मवैवर्तकार इतने से सन्तुष्ट नहीं हुए। उन्होंने कुब्जा की भक्ति का पुरस्कार उसे चटपट दिलाकर पटरानी.... बना दिया।

यह देखकर कंस ने नंद को कैद करने, वसुदेव को मार डालने और बलराम-कृष्ण को निकाल बाहर करने का हुक्म दिया। एक तो कृष्ण और बलराम के तेजोबल के कारण दूसरे पापी कंस के अत्याचारों से मुक्ति पाने का सुन्दर सुयोग समझकर किसी ने भी कंस की आज्ञा-पालन का साहस एवं विचार नहीं किया। कंस हैरान था कि इतने में स्थिति को ताड़कर कृष्ण कूदकर कंस के मचान पर जा धमके और उन्होंने चोटी पकड़ उसे जमीन पर दे मारा। कंस ने कुछ क्षणों तक हाथ पैर पीटे, लड़ने की चेष्टा की परन्तु शीघ्र ही उसके प्राण पखेरू देह पिंजर से बाहर उड़ गये। कृष्ण ने वसुदेव, देवकी और गुरुजनों को प्रणाम कर कंस के पिता उग्रसेन को पुनः सिंहासन पर बैठा दिया। इस प्रकार धर्मराज्य-संस्थापन की ओर महात्मा कृष्ण का यह प्रथम चरण था। इस अवसर पर बंकिम चन्द्र लिखते हैं –

कृष्ण ने कंस को मारकर कंस के पिता उग्रसेन को ही यादवों का राजा बनाया। क्योंकि महाभारत में भी उग्रसेन ही यादवों का राजा लिखा है। इस देश की पुरानी रीति यह है कि जो राजा का वध करता है वही राजगद्दी पर बैठता है। कंस को मारने वाले कृष्ण अनायास ही मथुरा का राजसिंहासन ले सकते थे, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया, क्योंकि धर्म से वह राज्य उग्रसेन का था। उग्रसेन को गद्दी से उतार कर कंस

राजा बन बैठा था। कृष्ण के लिए धर्म ही प्रधान वस्तु थी। वे बचपन से ही धर्मात्मा थे। इसलिये जिसका राज्य था उसे ही उन्होंने दे दिया। उन्होंने धर्म के अनुरोध से ही कंस को मारा था। कृष्ण डंके की चोट से कहा करते थे कि जिससे दूसरों की भलाई हो वही धर्म है। अत्याचारी कंस के वध से सारे यादवों का हित साधन होता था। इसी से श्रीकृष्ण ने कंस का वध किया। केवल धर्म के लिये ही उन्होंने यह काम किया था। यह भी ग्रंथों में लिखा है कि वध करके करुण-हृदय आदर्श पुरुष कृष्ण ने कंस के लिए विलाप किया था। इस कंस-वध में ही हमें वास्तविक इतिहास से पहले साक्षात् होता है। यहाँ हम देखते हैं कि कृष्ण परम बलशाली, परम कार्यरक्ष, परम न्यायी, परम धर्मात्मा, परहितरत और परदुःखकातर हैं। यहीं से प्रतीत होता है कि वह आदर्श पुरुष थे।

(6)

जरासंध के आक्रमण व द्वारका-प्रयाण

मगध उन दिनों बड़ा विशद और वैभवशाली राज्य था। मगध का प्रतापी सम्राट् जरासंध, कंस का ससुर था। उसकी दोनों कन्याएँ—अस्ति और प्राप्ति कंस को ब्याही थीं। जरासंध यादवों की इस ढिठाई को चुपके-चुपके कैसे देख सकता था कि इन्होंने एक ही बार में इधर तो उसके जामाता को मार कर उसकी एक नहीं दो लड़कियों को एक साथ विधवा कर दिया, उधर मथुरा का राज्य जरासंध के साम्राज्य से ही निकाल लिया।

जरासंध ने यादवों पर लगातार 17 आक्रमण किये। भला ये उसके सामने थे ही क्या? एक ओर एक पूरे साम्राज्य की शक्ति और दूसरी ओर इनेगिने यादव, जिनकी सारी संख्या ही 18000 से अधिक न थी। श्रीकृष्ण एक स्थान पर यादवों की इस मंत्रणा का वर्णन करते हैं कि यदि हम 300 वर्ष तक निरन्तर जरासंध की सेना को मारते जायें तो भी वह समाप्त होने में न आयेगी। यह विषम अनुपात रहते हुए भी

इन स्वतंत्रता के परवाने यादवों का युद्ध-कौशल देखिए कि इन्होंने सत्रह बार जरासंध की अनगिनत सेनाओं को निष्फल लौटाया ।

जरासंध के पास दो पहलवान थे । हंस और डिम्भक । वे उसे बहुत प्यारे थे । अपनी निजी रक्षा का भार उसने उन पर छोड़ रखा था । सत्रहवीं लड़ाई में जरासंध के साथ एक राजा आया था । जिसका नाम हंस था । उसे बलराम ने मार दिया । डिम्भक ने यह समाचार सुना तो वह समझा कि उसका साथी हंस मारा गया है । साथी से उसे अनन्य प्रेम था । मृत्यु का समाचार सुनते ही वह नदी में कूद पड़ा और डूब कर मर गया । यमुना नदी में वह दो बिछुड़े पहलवान फिर से इकट्ठे हो गये । जब जरासंध को पता लगा कि उसके दोनों प्रधान रक्षक मर चुके हैं तो उसकी हिम्मत टूट गई और वह युद्ध को बंद कर मगध लौट गया ।

अठारहवीं बार पुनः जरासंध ने अपनी पुत्रियों के उकसाने पर सदलबल आक्रमण किया । इस बार म्लेच्छ शासक कालयवन भी उसके साथ था । कृष्ण के नेतृत्व में इस बार भी यादवों ने इन्हें हराया तो सही और कृष्ण-कौशल से कालयवन मारा भी गया । रोज की चिन्ता से मुक्त होने का उपाय सयाने यादवों ने यही सोचा कि उस क्रूर की आँखों से दूर हो जाओ । समूचे यादव मथुरा को छोड़ द्वारका चले गये । वहाँ इन्होंने एक दृढ़ दुर्ग बनाया । उसकी सजावट ऐसी रखी कि पुरुष तो पुरुष, यदि कभी उसमें केवल स्त्रियाँ ही रह जायें तो वह भी आक्रमणकारी वैरियों के दांत खट्टे कर सकें ।

द्वारका के एक ओर विहार करता समुद्र, दूसरी ओर रेवतक पहाड़ । शस्यश्यामला भूमि । जिधर देखो हरियाली लहलहा रही है गोवर्धन की तलहटी में पले वृष्णि कुमार गोकुल के आम्रकुंजों का मजा रेवतक (जिसका दूसरा नाम गोमान था) की कुशस्थलियों में लेने लगे । सुरक्षित स्थान ने आक्रमण की चिन्ता ही मिटा दी । संघ का रास्ता बाह्य आपत्तियों से निष्कंटक हो गया ।

(7)

श्रीकृष्णविवाह

विदर्भ के राजा भीष्मक की कन्या का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी बड़ी रूपवती और गुणवती थी। कृष्ण उसके रूप-गुण की प्रशंसा सुन उस पर आसक्त थे और वह कृष्ण पर मुग्ध थी। परन्तु जरासंध को अपने जामाता के घातक और यादवों को मगध साम्राज्य से पृथक् करने वाले कृष्ण से अपने एक वशवर्ती राजा की लड़की से विवाह करना स्वीकार न था। रुक्मिणी का भाई रुकमी भी इसके विरोध में था। चेदिराज दमघोष का पुत्र शिशुपाल जरासंध का सेनापति था। जरासंध की प्रेरणा और अपने पुत्र रुकमी के आग्रह से भीष्मक ने अपनी पुत्री का संबंध शिशुपाल से तय कर दिया।

विवाहोत्सव पर मगध-साम्राज्य के सारे राजा निमंत्रित हुए। कृष्ण के लिये यह असह्य था। निश्चित् तिथि से एक दिन पूर्व ही कृष्ण अपने कुछ सहायकों सहित विदर्भ पहुँच गये और जब रुक्मिणी उद्यान-भ्रमण के लिये निकली तो अवसर पाकर कृष्ण उसे लेकर चलते बने। सबके सब राजा सेना ले कृष्ण के पीछे दौड़े पर कोई कृष्ण या यादवों का बाल भी बाँका न कर सका।

रुक्मी यह कुलापमान न सह सका उसने अपनी चतुरंगिनी सेना सहित कृष्ण का पीछा किया। परन्तु जब कृष्ण के पास पहुँचा तो उनके योगबल और अपूर्व तेज से प्रभावित हो बिना युद्ध किये ही उसने हार स्वीकार कर ली। यह एक प्रकार से विदर्भों द्वारा रुक्मिणी-कृष्ण-परिणय की स्वीकृति थी। कृष्ण ने रुक्मिणी सहित द्वारिका में आ कर वैदिक विधि से विवाह किया। जहाँ कृष्ण की सुन्दर छवि और प्रभावशाली शील से रुक्मी परास्त हुआ था, वहाँ उसने एक नये नगर की स्थापना की जिसका नाम भोजकट रखा गया। इस प्रकार रुक्मिणी का विवाह एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना बन गई। स्थिर स्मारक ने

इन कुलों के मेल को इतिहास में अमर कर दिया। कृष्ण का विवाह केवल और केवल रुक्मिणी के साथ हुआ था।

कृष्ण पर बहु पत्नीत्व का आरोप सर्वथा मिथ्या, भ्रमपूर्ण और पाप-मूलक है। यह विवाह संयोग हार्दिक प्रेम पर आधारित था। उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिये यह अत्यावश्यक है। इतना ही नहीं श्रेष्ठतम सन्तान-उत्पत्ति के विचार से इन दोनों ने विवाह के पश्चात् 12 वर्ष ब्रह्मचर्यपूर्वक घोर तप किया। इस तपस्या पूर्ण साधना का फल था—प्रद्युम्न, जो रूप, शील दोनों में दूसरा कृष्ण था। कृष्ण को इस दिव्य सन्तान का कितना अभिमान था कि जहाँ कहीं वे प्रद्युम्न का वर्णन करते उसे मेरा पुत्र कहते। धन्य हैं वे व्यक्ति जिनके माता-पिता उनके प्रति ऐसे गर्वीले भाव रखते हों। कृष्ण कितने तपस्वी थे, कितने संयमी, कितने सदाचारी और ब्रह्मचर्य व्रत परायण यह एक इसी घटना से सुस्पष्ट है—

प्रियं मा कृणु देवेषु, प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत, उत शूद्रे उत आर्ये।। —वेद

प्रभो! मुझे ब्राह्मणों में प्रिय बनाओ, मैं क्षत्रियों में सम्मानित होऊँ, मैं वैश्यों और शूद्रों का प्यार प्राप्त करूँ। इस प्रकार मुझे सब प्यार करें, मैं सर्वप्रिय—सबका प्यारा बनूँ।

श्रीकृष्ण का जीवन इस पवित्र वेद-मंत्र का मूर्त रूप था। अपनी विद्वत्ता और धर्माचरण के कारण वे देवों, विद्वान् ब्राह्मणों के प्रिय थे तो अपने तेजोबल और न्याय-नीति से वे अपने समकालीन, गो-रक्षण और गो-वर्द्धन आन्दोलन द्वारा वे जहाँ गोपालों के प्राणाधार थे तो अपनी सेवा साधना द्वारा भी वे सभी के निकट मन-मोहक थे। सब में श्रीकृष्ण सर्वप्रिय राष्ट्र-पुरुष थे। सबका प्यारा, प्रजा का प्यार ही परमात्मा का प्यार है। एकान्त गुफा में बैठने वाला नहीं, किन्तु संसार के कर्म-समर के बीच सब को जीवनामृत बाँटने वाला ही सच्चा योगी है। वेद की दृष्टि में ऐसा पुरुष ही आदर्श पुरुष है, पूर्ण पुरुष है। ऋषि

दयानंद के शब्दों में वह आप्त पुरुष है । कृष्ण एक पूर्ण पुरुष थे । एक आदर्श महामानव थे व आप्त पुरुष थे ।

अब तक हमने इस महात्मा के गौरवपूर्ण बाल-काल, शिक्षा काल और युवाजीवन की आरम्भिक गति विधियों के चित्र देखे हैं । हम जानते हैं कि ये चित्र अपने आप में कितने मनोरम और हृदयग्राही हैं । जीवन का अर्थ है परमार्थ जीवन, सेवार्थ जीवन, लोकहितार्थ जीवन—कृष्ण-जीवन की इस व्याख्या के बीजांकुर भी इन चित्रों में हमें सर्वत्र ही दिखाई पड़ते हैं । एक कवि के शब्दों में —

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये जिये ।

वही मनुष्य है कि जो मनुष्य के लिये मरे ।।

यह दिव्य जीवन आदर्श इन चित्रों में भी बड़ी गहराई से उभरा है । राजनीति के चित्रपट से यों उनका परिचय कंस-वध के साथ ही हो जाता है और यादवों के एकीकरण के रूप में उनके धर्ममय राजनैतिक नेतृत्व की सफलता का मानबिन्दु भी कायम हो जाता है । उसके पश्चात् जरासंध के आक्रमणों, द्वारका-प्रस्थान, रुक्मिणी- परिणय आदि प्रसंगों में भी श्रीकृष्ण के शौर्य, धैर्य, नीतिमत्ता और सर्वप्रियता के दर्शन होते हैं । परन्तु यह सब कुछ एक सीमित क्षेत्र तक था । व्यापक क्षेत्र में श्रीकृष्ण के इन महान् गुणों और आदर्शों के प्रयोग द्वारा युग-निर्माण का कार्य अभी शेष था। द्रौपदी-स्वयंवर में पाण्डव-परिचय के साथ यह सुयोग उपस्थित होता है ।

इस प्रसंग के पश्चात् श्रीकृष्ण का जीवन जैसे एक नया मोड़ लेता है । उनकी जीवन-धारा में अनेकों जीवन-नद मिलकर एक विशाल धारा का निर्माण करते हैं । जिस भाँति गंगा नदी में अनेकों बड़े-बड़े नद-नदियाँ मिलकर गंगामय हो गंगासागर का रूप लेते हैं ठीक उसी तरह राष्ट्र की विविध जीवन-धारायें श्रीकृष्ण की जीवनधारा के साथ मिलकर कृष्णमय हो जाती हैं । कृष्ण सब पर छा जाते हैं और हमें राष्ट्र पुरुष, युग पुरुष, युग विधायक कृष्ण के दर्शन

होते हैं ।

अब तक की घटनाओं से श्रीकृष्ण की यह दृढ़ धारणा हो गई थी कि भारतवर्ष के सम्पूर्ण रोगों की मात्र औषधि है—लोक-शासन पद्धति पर आधारित एक केन्द्रीय सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना । यह साम्राज्य धर्म (सत्य+न्याय+सद्भाव) के ऊपर आधारित होना चाहिये । क्योंकि धर्म से ही मनुष्य की इहलौकिक और पारलौकिक उन्नति होना सम्भव है । कृष्ण के समय में प्रतापी राजाओं का अभाव न था, परन्तु धर्म का सहायक निर्बलों का पोषक और विश्व-कल्याण का शंखनाद करने वाले एक ऐसे सम्राट् का अभाव सबको खटक रहा था, जिसके ध्वज के नीचे आकर लोग अपने को अत्याचार से मुक्त समझें और उन्नति की ओर अग्रसर हो सकें ।

इस प्रकार महाभारत का निर्माण उनका जीवन स्वप्न बन गया । जरासंध यद्यपि बल और प्रताप का भण्डार था । सच में वह एक प्रभुता सम्पन्न सम्राट् था । काश ! कि ऐसा प्रतापी सम्राट् धर्म-पथ का पथी होता तो श्रीकृष्ण का कार्य आसान हो जाता, परन्तु जैसा कि हम जानते हैं उसकी शक्तियाँ कुमार्गगामिनी हो गई थीं । स्पष्ट था कि जरासंध को साथ लेकर श्रीकृष्ण का धर्म-साम्राज्य- संस्थापन का स्वप्न पूरा होना असम्भव था ।

उन दिनों में दूसरा बड़ा साम्राज्य था—चन्द्रवंशियों का, यहाँ कौरव-पाण्डवों में राज्य के उत्तराधिकार का झगड़ा था । पाण्डवों का पक्ष धर्मयुक्त और न्यायानुमोदित था । श्रीकृष्ण की पैनी दृष्टि ने पाण्डु-पुत्र धर्मराज युधिष्ठिर में युग सम्राट् के दर्शन किये । यहाँ कृष्ण-चरित्र की एक और महानता देखने को मिलती है । सहायकों और साधनों की दृष्टि से पाँडवों का पक्ष निर्बल था किन्तु श्री कृष्ण ने पाण्डवों के धर्मात्मा होने के कारण ही उनका साथ दिया तथा अन्यायकारी अधर्मात्मा किन्तु बलवान दुर्योधन का विरोध ले लिया ।

महर्षि दयानंद ने इसी को मनुष्यपन रूप धर्म कहा है। साधना के अभाव में भी युधिष्ठिर की पीठ पर थे, उनके आज्ञानुवर्ती चारों भाई और मुख्य रूप से वीरता के साक्षात् अवतार भीम और अर्जुन। पाण्डवों की शौर्य कहानी श्रीकृष्ण पहले सुनते रहे थे, द्रौपदी-स्वयंवर पर उन्होंने प्रत्यक्ष ही इसका अनुभव किया। बस फिर क्या था उन्होंने पाण्डवों को सर्वविध अपना ही लिया।

द्रौपदी स्वयंवर में राजाओं के कोलाहल को शांत कराके तथा पाण्डवों से भेंट करके अपनी नीतिमत्ता, शालीनता और विनम्रता से इन्होंने पाण्डवों का हृदय तो जीत ही लिया था, अपनी बहिन सुभद्रा का अपने परम मित्र अर्जुन से रिश्ता जोड़कर उन्होंने इस मैत्री संबंध को और भी गाँठ लगा दी। बड़ी बात यह हुई कि अर्जुन-सुभद्रा संबंध से न केवल कृष्ण किन्तु समस्त यादवों का सहयोग अनायास ही युधिष्ठिर को प्राप्त हो गया। खाण्डव-विजय, जरासंधवध, राजसूययज्ञ और शिशुपालवध के सभी अध्यायों में हम उन्हें अपने जीवन लक्ष्य—एक आदर्श आर्य साम्राज्य की नींव रखते हुए देख सकते हैं। कृष्ण के इस कार्य के पीछे कौरव-पाण्डव संघर्ष की सदैव के लिये समाप्ति की भावना भी थी।

परन्तु श्रीकृष्ण के द्वारका निवास के काल में, उनकी अनुपस्थिति में कुछ अघटनीय घटनायें घटती हैं। युधिष्ठिर के पृथक् साम्राज्य संस्थापन से युद्ध की बदलियाँ जो छंट गई प्रतीत होती थीं, पुनः घिर आईं। श्रीकृष्ण ने पुनः आत्मना पूर्ण यत्न किया कि सर्वनाश की ज्वालाओं से उनका प्यारा राष्ट्र बच सके। इसके लिये उन्होंने दूत-कर्म स्वीकार किया। सन्धि के पूर्ण प्रयत्न के पश्चात् भी अन्य कोई मार्ग न देखकर उन्होंने किसी भी मूल्य पर अन्याय का दमन ही कर्त्तव्य ठहराया।

युद्ध पूर्व परिस्थितियों में कृष्ण की भूमिका दूत-कर्म के साथ पूर्ण होती है। विभिन्न युद्ध पर्वों में श्रीकृष्ण का कौशल दर्शनीय है। कृष्ण धर्म तत्ववेत्ता हैं। धर्म के मर्म को उन्होंने गहराई से समझा है। उनके निकट कर्म क्षेत्र ही धर्मक्षेत्र हैं कर्त्तव्य पालन ही धर्म की सर्वोत्तम साधना है। अन्याय का मूलोच्छेदन क्षत्रिय का धर्म है। मोहवश अर्जुन इस पवित्र कर्त्तव्य से पीछे हटना चाहता है। कृष्ण उसके सम्मोहन को दूर करते हैं। कृष्ण प्रेरित अर्जुन कर्म-त्याग के पाप से बच जाता है। कर्त्तव्य और भावना के संघर्ष में कर्त्तव्य विजयी होता हैं यही है गीता-सार।

धर्म-पथ दुरुह है, वह 'क्षुरस्य धारा' है। कर्त्तव्य की कठोरता विचारशीलों को भी विचलित कर डालती है। परन्तु अर्जुन के सारथी योगिराज कृष्ण हैं। लोकहित, लोक-मंगल ही कृष्ण के निकट धर्म की सच्ची कसौटी है। अन्यायकारी, अधर्मात्मा मिटना ही चाहिये भले ही उसके विनाश में प्रत्यक्षतः धर्म सम्मत न दीखने वाले साधनों का भी कभी-कभी उपयोग क्यों न करना पड़े—ऐसा कृष्ण मानते हैं। पाप का उन्मूलन ही कृष्णनीति का सार है।

कृष्ण युद्ध संचालन के सूत्रधार हैं। किन्तु वे स्वयं निःशस्त्र हैं। सब कुछ करते हुए भी वे जैसे कुछ नहीं कर रहे। स्वयं के लिये उन्हें कुछ भी करना शेष नहीं है वे एक क्षण भी बिना कर्त्तव्य कर्म के रह नहीं सकते। उनके तन-मन जीवन की सारी शक्तियाँ जन सेवार्थ अर्पित हैं। उन्हें एक धर्म राज्य चाहिये। यह उनका जीवन-व्रत है परन्तु वे स्वयं इसके अधिनायक नहीं बनेंगे। श्रीकृष्ण की यह अलिप्तता, यह धर्म परायणता यह ईश्वर अर्पित बुद्धि-वैभव और 'सर्वभूत हितेरतः' का यह अनुपम आदर्श ही है जिसने श्रीकृष्ण को अजर-अमर बना दिया है।

(8)

द्रौपदी-स्वयंवर व श्रीकृष्ण युधिष्ठिरसंवाद

महाभारत में कृष्ण का सीधा उल्लेख सर्वप्रथम द्रौपदी स्वयंवर के प्रसंग में किया गया है। राजा द्रुपद की पुत्री द्रौपदी के स्वयंवर में आमंत्रित होकर देश विदेश के अनेक राजा एकत्र हुये थे। पाण्डव लोग भी ब्राह्मण वेश में वहाँ उपस्थित थे। सर्वप्रथम कृष्ण महाराज ने ही उन्हें पहचाना। अर्जुन के लक्ष्यभेद करने पर जब अन्य उपस्थित राजा द्रुपद को मारने के लिये तैयार हुये तो पाण्डवों ने उनकी रक्षा का यत्न किया। इस समय तक कृष्ण को यह दृढ़ निश्चय हो गया कि ये पाण्डव ही हैं। वे पुनः बलदेव से कहते हैं कि सिंह की भाँति डोलते हुए चलने वाले जो पुरुष पांच हाथ से कुछ कम माप के धनुष को खींच रहे हैं। उनका अर्जुन होना इतना निश्चय है, जितना मेरा कृष्ण होना। जो वेग से वृक्ष उखाड़ कर एकाएक भूपालों का अन्त करने को प्रवृत्त हुये हैं वे वृकोदर होंगे। हे अच्युत, मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इसके पहले कमल की भाँति प्रशस्त नेत्रयुक्त, सिंह के समान चलने वाले, नम्र, गौर, दीर्घ और उज्ज्वल नाक वाले, आजानबाहु जो पुरुष पधारे हैं वे ही धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं। उनके साथ कार्तिकेय के सदृश जो दो कुमार खड़े हैं वे नकुल, सहदेव होंगे।

ब्राह्मण वेशधारी अर्जुन द्वारा स्वयंवर में द्रौपदी को वरण किया जाना देखकर क्षत्रिय राजाओं को अत्यधिक क्रोध आया और वे उनसे लड़ने के लिए तैयार हुये। पाण्डव भी युद्ध के लिए तैयार थे। सर्वप्रथम कर्ण और अर्जुन का युद्ध हुआ, जिसमें कर्ण परास्त हुआ। इसके पश्चात् भीम और शल्य का सामना हुआ, जब शल्य की भी भीम के आगे दाल नहीं गली तो राजाओं के मन में अनेक शंकायें उत्पन्न होने लगी। इस समय श्रीकृष्ण ने दोनों पक्षों को शान्त किया। इन्होंने कहा कि इस ब्राह्मण ने धर्म के अनुसार ही द्रौपदी को प्राप्त किया है। अतः इससे द्वेष करना उचित नहीं। कृष्ण के इस कथन को सुनकर

सभी राजा युद्ध से विमुख होकर अपने घरों को लौट गये।

इस प्रकार कृष्ण ने उस व्यर्थ के रक्तपात रूपी अनर्थ को रोका जो राजा लोग पाण्डवों को ब्राह्मण समझकर और उनकी विजय को देखकर युद्ध करने जा रहे थे। कृष्ण के सम्पूर्ण जीवन का उद्देश्य ही धर्म संस्थापन था। अतः यहाँ भी यदि उन्होंने धर्म की ही दुहाई देकर उसकी महत्ता को स्थापित किया तो आश्चर्य ही क्या? कृष्ण के विचारानुसार व्यर्थ का रक्तपात पाप है। परन्तु शरीर रक्षा हेतु युद्ध करना धर्म है। इसलिये पाण्डवों ने वहाँ जो कुछ किया उसे कृष्ण का समर्थन प्राप्त हुआ। तत्कालीन राजाओं के हृदय में भी यादववंश मणि कृष्ण का बड़ा सम्मान था। तभी तो उन्होंने कृष्ण के बीच बचाव करते ही युद्ध बंद कर दिया और अपने-अपने घर लौटने को तैयार हो गये।

स्वयंवर-समाप्ति के पश्चात् पाण्डव लोग द्रौपदी को लेकर अपने निवास स्थान पहुँचे। कुछ ही समय के पश्चात् कृष्ण और बलदेव भी उनसे भेंट करने के लिये आये। महाभारत में लिखा है कि वसुदेव कृष्ण अजमीढ़ वंशी, धार्मिक वर, कुन्ती कुमार युधिष्ठिर के सामने जाकर उनके पाँव छूकर बोले, मैं कृष्ण हूँ। इसी प्रकार बलदेव पाण्डव जी ने भी किया। पाण्डव बलराम और कृष्ण को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुये। इसके पश्चात् बलराम और कृष्ण फूफी कुन्ती के पाँव लगे। अजातशत्रु युधिष्ठिर ने कृष्ण को देखकर और कुशल क्षेम पूछ कर कहा , हे वसुदेव, तुमने यह कैसे जाना कि हम यहाँ बसे हुये हैं? कृष्ण ने हँस कर कहा—अग्नि छिपे रहने से भी कभी अज्ञात नहीं रहती। इसी प्रकार इस भूमण्डल के मानवों में पाण्डवों के बिना और कौन ऐसा पराक्रम दिखा सकता है? इस प्रकार मधुर वचनों का आदान प्रदान करने के उपरांत कृष्ण ने पाण्डवों से विदाई ली।

इसके पूर्व यद्यपि कृष्ण और पांडवों का साक्षात परिचय नहीं था, परन्तु कृष्ण ने अपना यह कर्त्तव्य समझा कि वे स्वयं जाकर आपत्तिग्रस्त पाण्डवों से मिलें और उनकी सहायता करें। इस लिये वे द्रौपदी के विवाह हो जाने तक वहाँ रहे और उन्होंने पाण्डवों का नाना

प्रकार के वस्त्राभूषण तथा गृहस्थ की अन्य आवश्यक वस्तुयें आदि भेजीं, पाण्डवों को ऐसे समय में जिनकी बड़ी आवश्यकता थी। श्री कृष्ण इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर और द्रौपदी के सिंहासनरूढ़ हो चुकने के पश्चात् ही द्वारका लौटकर गये। इससे कृष्ण का अपने संबंधियों के प्रति प्रेम और सौजन्य के भाव का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। दुःख में पड़े हुए पाण्डवों की सेवा करना उनका धर्म था। यद्यपि उनका पाण्डवों से अब तक साक्षातरूपेण परिचय नहीं हुआ था, परन्तु फिर भी अपने दुर्दशाग्रस्त संबंधियों की खोज कर उनकी सहायता करना कृष्ण जैसे आदर्श व्यक्ति के लिये ही सम्भव था। कृष्ण तो सुजनता और शिष्टाचार के मूर्तिमान आदर्श ही थे, उनके लिये ऐसा करना सर्वथा स्वाभाविक था।

(9)

सुभद्रा का विवाह व खाण्डव वन विजय

एक बार अर्जुन भ्रमण करते-करते पश्चिम समुद्र के किनारे बसे प्रभास नगर में पहुँचे। उस समय यह एक अत्यंत रमणीय नगर था। श्रीकृष्ण को पता लगा तो वे वहीं पहुँचे। दोनों वीर गले मिले और एक दूसरे का कुशल समाचार पूछा। श्रीकृष्ण अर्जुन को द्वारिका ले आये। पाण्डव वीर के स्वागत में द्वारिका को नई दुल्हन की तरह अलंकृत किया गया और पुरवासियों ने राजमार्ग पर आकर कृष्ण सखा अर्जुन का अभिनन्दन किया।

उन दिनों रैवतक पर्वत पर एक बड़ा भारी मेला लग रहा था, जिसमें सारे यादव अपने परिवारों सहित सम्मिलित हुये थे। इसी अवसर पर अर्जुन ने कृष्ण की बहन सुभद्रा को सर्वप्रथम देखा। उसके अपूर्व सौन्दर्य से चमत्कृत होकर उसने कृष्ण से उससे विवाह करने की

इच्छा प्रकट की। इस पर श्रीकृष्ण ने कहा कि क्षत्रियों का नियम स्वयंवर विवाह का है, परन्तु उसके सिद्ध होने में शंका हो सकती है क्योंकि नारियों का स्वभाव और हृदय शूरता, पाण्डित्य आदि गुणों पर नहीं चलता। वे पहले देखने पर सुन्दर जन पर मोहित होती है। अतएव शूर क्षत्रियों के लिये बल से कन्या का हरण कर विवाह करने के जिस नियम की धर्मज्ञगण प्रशंसा करते हैं, तुम उसी विधान के अनुसार बलपूर्वक मेरी इस शुभ लक्षणान्वित बहिन का हरण करो।

कृष्ण की इस सम्मति से अर्जुन का कार्य और भी सरल हो गया और वह सुभद्रा को अपने रथ पर बिठाकर हस्तिनापुर की ओर चला। सुभद्रा हँसती हुई रथ में बैठ गई। अर्जुन के इस कार्य का समाचार जब यादवों ने सुना तो उनके क्रोध का पारावार न रहा। वे अर्जुन से बदला लेने और उसकी इस उद्दण्डता का मजा चखाने के लिये युद्ध की तैयारियाँ करने लगे। ऐसे समय में जब कि यादवों का सारा समाज अर्जुन द्वारा किये गये जातीय अपमान से अत्यंत क्षुब्ध हो रहा था, श्रीकृष्ण के मुख-मण्डल पर अशान्ति और उद्विग्नता की एक रेखा भी नहीं थी। उनका चेहरा पूर्ण प्रशान्त और गम्भीर था। कृष्ण की स्थितप्रज्ञता को देखकर बलराम के मन में शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो, कुछ न कुछ रहस्य अवश्य है। उन्होंने यादवों की अनावश्यक उत्तेजना को शान्त किया और कृष्ण से उनका मत पूछा। कृष्ण ने सुभद्राहरण का औचित्य जिस प्रकार सिद्ध किया उससे सबको संतोष हो गया।

कृष्ण ने कहा, ''अर्जुन ने जो कार्य किया है उससे हमारे कुल का अपमान नहीं हुआ है, वास्तव में उन्होंने हमारा सम्मान ही बढ़ाया है। वे जानते हैं कि हम धन लोभी नहीं है इसलिये उन्होंने धन देकर 'आसुर-विवाह' करने की चेष्टा नहीं की। स्वयंवर में शंका है, सो उन्होंने उसका भी प्रयत्न नहीं किया। पशु की भाँति कन्यादान किसी क्षत्रिय को प्रिय नहीं और कन्या-विक्रय भी कदापि उचित नहीं।

इसलिये मुझे ऐसा जान पड़ता है कि इन सब दोषों की भली-भाँति आलोचना करके ही अर्जुन ने एकाएक कन्या हर ली है। सुभद्रा जैसी यशस्विनी है, अर्जुन भी वैसे ही गुणवान हैं। फिर ऐसा कौन है जो उस यशस्वी अर्जुन को अपना मित्र बनाना न चाहे। त्रिलोकी में ऐसा कोई नहीं जो उन्हें परास्त कर सके। अतः मेरा विचार है कि हम लोग उन्हें तुरन्त प्रसन्न करें। यादवों ने कृष्ण के इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया और उन्होंने आदर पूर्वक अर्जुन के साथ सुभद्रा का विवाह कर दिया।

पाण्डवों की राजधानी (इन्द्रप्रस्थ) से कुछ दूरी पर एक सुन्दर वन था, जिसको खाँडवप्रस्थ कहते थे। इसमें जंगली पशुओं के अतिरिक्त अनेक असभ्य जातियाँ रहती थीं। उस समय तक इन जंगली जातियों को किसी ने परास्त न किया था। यह वन बहुत बड़ा था। इस वन की रहने वाली जातियाँ बड़ी वीर और लड़ाकी थी। पाण्डवों को यह वन दे देने में धृतराष्ट्र की यही नीति थी, कि इस पर स्वत्व में या तो स्वयं पाण्डवगण अपने अमूल्य प्राण नष्ट करेंगे या उनको मार कर ऐसे प्रदेश को राज्य में मिला लेंगे, जिसे उनके पहिले कोई भी अपने अधीन नहीं कर सका है। वास्तव में धृतराष्ट्र का यह अन्याय था कि उन्होंने अपने पुत्रों को तो अच्छी-अच्छी बस्तियाँ और उपजाऊ भाग दिये और पाण्डवों को पथरीला और उजाड़ वन दिया।

धर्म वीर युधिष्ठिर धृतराष्ट्र का इतना आदर सम्मान करते थे कि उन्होंने इस बँटवारे पर चूँ तक नहीं किया और प्रसन्न चित्त से इस प्रांत को अंगीकार कर लिया। श्रीकृष्ण को भी यही हितकर दीख पड़ा कि स्वत्व के ऊपर बहुत जोर न दिया जाये और जो कुछ धृतराष्ट्र ने निश्चय किया है, उसे स्वीकार कर लिया जाये। इन्हीं कारणों से जब पांडवों ने खांडवप्रस्थ का लेना स्वीकार कर लिया तो कृष्ण ने उनका साथ दिया और उस वन के काटने और बसाने में उनकी सहायता की। यहाँ तक कि जब तक इन्द्रप्रस्थ अच्छी तरह न बसा और पाण्डवों का पूरा अधिकार न जमा तब तक वे द्वारिका न गये।

ऐसा जान पड़ता है कि जब सुभद्रा का दहेज लेकर कृष्ण इन्द्रप्रस्थ गये तो अर्जुन ने उन्हें वहाँ ठहरा लिया और फिर दोनों में यह निश्चय हुआ कि खांडवप्रस्थ की जंगली जातियों को परास्त कर युधिष्ठिर का राज्य बढ़ा दें और जंगल को जलाकर उपजाऊ बना दें। आदि पर्व 224 वें अध्याय से लेकर 231 पर्व की समाप्ति तक अलंकारों में इन्हीं युद्धों का वर्णन है। इन अध्यायों के पढ़ने से मालूम होता है कि इस वन में पिशाच राक्षस, दैत्य, नाग, असुर, गन्धर्व, यक्ष, दानव आदि अनेक असभ्य जातियाँ बसी हुई थीं जिनके साथ अर्जुन और कृष्ण को बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। इन पर विजयी होने से सारे आर्यावर्त में पांडवों का सिक्का जम गया। क्योंकि उस समय तक किसी राजे महाराजे को यह साहस न हुआ था कि युद्ध करके इन जंगली जातियों को मार उनको अधीन कर ले। एक ओर तो इस विजय ने पाण्डवों के सैनिक बल का डंका पीट दिया, दूसरी ओर महाराज युधिष्ठर के न्याय और नीति की धूम मच गई। वेद-विद्या के ज्ञाता युधिष्ठिर ने इस योग्यता से राज्य का प्रबन्ध किया कि सारे देश में उनका यश फैल गया। देश-देशान्तर की प्रजा यही चाहने लगी कि वह भी युधिष्ठिर की प्रजा बनकर उनके धार्मिक व्यवहार से लाभ उठावें।

खांडवप्रस्थ के किसी युद्ध में अर्जुन ने मय नामी एक पुरुष को जीवन-दान दिया। इस युद्ध की समाप्ति पर जब अर्जुन और कृष्ण इन्द्रप्रस्थ लौट आये तो मय उनके पास आकर बोला कि इस जीवन दान के प्रतिकार में मुझे कुछ सेवा मिलनी चाहिये। अर्जुन ने कहा कि मैंने तुम्हारे जीवन की रक्षा की है इसलिये मैं तुमसे उसके बदले में कुछ नहीं ले सकता। तुम स्वतन्त्र हो, जहाँ चाहो जाओ और प्रसन्न रहो। मय इसके उत्तर में बहुत आग्रह करने लगा और बोला–

हे पाण्डुपुत्र! यद्यपि आपको यही उचित था जो आपने कहा पर आपकी कुछ सेवा करने की मुझे उत्कट इच्छा है। मैं चाहता हूँ कि आपकी कोई सेवा करके अपनी प्रवीणता दिखलाऊँ क्योंकि मैं अपने

को इस समय का विश्वकर्मा (इंजिनीयर) मानता हूँ।

अर्जुन ने उत्तर दिया–

हे मय! मेरा सिद्धान्त है कि मैंने तेरी जान बचाई इसलिये तुझसे बदले में कुछ न लूँ परन्तु यदि तेरी यही इच्छा है तो तू कृष्णजी की कुछ सेवा कर इससे मैं प्रतिकार पा जाऊँगा।

यह सुनकर मय ने कृष्ण से आग्रहपूर्वक प्रार्थना की। अन्त में कृष्ण ने कहा कि हे मय! यदि तू मेरे लिये कुछ करना चाहता है तो राजा युधिष्ठिर के लिये एक ऐसी राज सभा (गृह) बना जो संसार में अद्वितीय हो और जैसी कि दूसरी कोई और न बना सके।

इस प्रासाद का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है कि इसकी परिधि 1000 हाथ की थी। इसमें सुनहरे स्तम्भ लगे थे और सारा महल मोतियों की चमक से ऐसा जगमगाया करता था कि उसके सामने सूर्य का तेज भी मंद दिखाई पड़ता था। इसके पश्चात् एक जलाशय का वर्णन करते हैं, कि जिसका जल ऐसा स्वच्छ था कि नीचे भी भूमि दिखाई देती थी। इधर-उधर संगमरमर की सीढ़ियाँ थीं। जिनमें हीरे और दूसरे बहुमूल्य पत्थर जड़े हुए थे। चारों ओर बड़े-बड़े वृक्ष थे। इनसे सटा हुआ एक बनावटी जंगल बनाया गया था। और अन्य प्राकृतिक दृश्यों का अनुकरण किया गया था। इस प्रासाद की प्रतिज्ञा के उपलक्ष में यज्ञ के दिन 500 ऋषि और मुनि उपस्थित थे और देश-देश के राजे महाराजे आये थे। राजाओं की इस नामावली में हम मद्रास, कलिंग, बंगाल, लंका, कन्नौज, अन्धक और मगध आदि देशों के राजाओं का नाम पाते हैं।

यहाँ इस प्रसंग में अर्जुन और श्रीकृष्ण दोनों ने ही परस्पर उपकारता का यज्ञमय जीवन अथवा निष्काम धर्म का जैसा उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत किया है वह वैदिक धर्म और वैदिक संस्कृति का ही भाग है। श्री बंकिमचन्द्र इस अवसर पर बड़े भावपूर्ण शब्दों में लिखते हैं –

इसका नाम है निष्काम धर्म! क्रिस्तानों के योरुप में यह नहीं हैं

बाइबिल में जो धर्म लिखा है वह स्वर्ग या ईश्वर की प्रीति चाहता हैं यह हमारा दुर्भाग्य है कि हम यह (महान्) धर्म छोड़कर योरुप के ग्रंथों से नीति की शिक्षा लेते हैं ।

सभा भवन का निर्माण ही धर्म-राज्य संस्थापन का शुभारम्भ है । यहीं श्रीकृष्ण की अमर अभिलाषा की गंध अन्त में उनसे ही धर्म-राज्य की संस्थापना हुई । धर्म-राज्य का संस्थापन जगत् का कार्य है । किन्तु जब वह कृष्ण का जीवनोद्देश्य था तब वह काम भी उनका ही हुआ । विश्व-जगत् के साथ यह तादात्म्य-भाव ही कृष्ण जीवन की गरिमा का केन्द्र बिन्दु है । मय ने विनयपूर्वक इस आज्ञा पूर्ति के निमित्त प्रण किया और एक पुण्य दिवस 1000 (हाथ) परिधि की विमानाकार सभा की आधार शिला रखी गई ।

(10)

द्वारका-गमन एवं जरासंध-वध

यह सब कार्य कर कृष्ण ने पाँडवों से विदा ली । फूफी के पाँवों पर सिर रखा । कुन्ती ने इनका माथा चूमा और इन्हें छाती से लगाया । ये सुभद्रा से छुट्टी लेने गये तो इनके आँखों में आँसू आ गये । इन्होंने उसके हित की मीठी-मीठी दो चार शिक्षायें दीं । सुता-सदृश भगिनी का प्रणाम ले तथा द्रौपदी से मिलकर पांडव-कुल के पुरोहित धौम्य की वन्दना की । अन्त में पाँडवों से घिरे हुए कृष्ण बाहर के आँगन में ब्राह्मणों के सम्मुख आये । उनसे स्वस्तिवाचन सुन, दही, अक्षत, फल आदि को भेंट प्राप्त कर तथा उनकी प्रदक्षिणा कर रथ में बैठे । युधिष्ठिर ने स्वयं सारथी का स्थान लिया । अर्जुन चंवर डुलाने लगे । डेढ़ मील दूर जाकर कृष्ण ने युधिष्ठिर के पाँव छू उनसे विदा मांगी । पौर-जन ठहर गये और जब तक रथ आँखों से ओझल न हो गया,

दर्शन के प्यासे नेत्र पीछे से ही उस महावीर की अर्चना करते रहे ।

द्वारका पहुँचकर श्री कृष्ण सात्वत वृद्ध आहुक और यक्षस्विनी माता से मिले । सबका यथा योग्य सत्कार करने और छोटों को गले लगाकर प्यार करने के पश्चात् गुरुजनों की आज्ञा ले रुक्मिणी के महल में चले गये ।

सभा पर्व के दूसरे अध्याय में वर्णित श्रीकृष्ण के इन मानवी गुणों का वर्णन व्यास जी महाराज ने इतनी सुन्दरता और चित्ताकर्षक ढंग से किया है, कि श्रीकृष्ण को ईश्वर समझने वाले बंकिम को भी यह कहने के लिए विवश होना पड़ा, ''श्रीकृष्ण ने अपने को ईश्वर कहीं नहीं कहा है और न यही कहा है कि मुझ में अमानुषी शक्ति है । किसी के ईश्वर कहने पर उन्होंने उसका अनुमोदन नहीं किया और न ऐसा आचरण ही किया जिससे उनके ईश्वर होने का विश्वास दृढ़ हो जाये । एक जगह तो इन्होंने साफ कर दिया है, मैं यथासाध्य पुरुषार्थ का प्रकाश कर सकता हूँ । परन्तु दैव के कामों में मेरा कुछ वश नहीं है ।''

कुछ काल से युधिष्ठिर का शासन उन्नति के शिखर पर जा पहुँचा । दिग्-दिगन्तर में पाण्डवों की तूती बोलने लगी । प्रजाजनों के लिये महाराज पितृ समान हो गये । वर्षायें पर्याप्त समय पर होने पर कृषि खूब होती थी । व्यापारियों को वाणिज्य से उत्तरोत्तर अधिक लाभ होने लगा । ग्वालों का गोधन बढ़ गया । घर-घर यज्ञ होते थे । कर की प्राप्ति समय पर हो जाती थी । इसमें अनुकर्ष (ऋण) नहीं रहता था । न कर की प्राप्ति में बल प्रयोग ही करना पड़ता था । स्वास्थ्य का सुप्रबन्ध था । रोग नहीं फैलते थे । आग न लगने दी जाती थी अधिक ब्याज लेने की मनाही थी । चोरों, डाकुओं, ठगों की नहीं चल सकती थी । राजा के प्रेम ने लोगों के दिलों में घर कर लिया था ।

भिन्न-भिन्न स्थानों के व्यापारियों के साथ-साथ उन स्थानों के राजा लोग भी कर देने और युधिष्ठिर का कहा मानने को तैयार थे ।

माण्डलिक राजा लोगों का आपस में कलह मिट गया था। उनका आपस में संधि-विग्रह आदि इनके कहने से हो रहा था। कोई कामना के अधीन कोई प्यार से कोई स्वार्थवश, इनके अधीन हो गया था। इस प्रकार इनके शासन का विस्तार बढ़ रहा था। दिग्-दिगन्तरों के प्रजावर्ग के हृदयों में इनके लिए अनुराग पैदा हो गया था। प्रेम के विजय से तो ये सर्व राष्ट्र हो ही चुके थे।

ऐसी दशा में युधिष्ठिर की इच्छा हुई कि राजसूय यज्ञ करके सम्राट की उपाधि ग्रहण की जाये। राजसूय एक प्रकार का यज्ञ है जिसके करने में महाराजाधिराज की उपाधि मिलती थी। इस यज्ञ का करने वाला राजा यज्ञ के एक वर्ष पूर्व एक घोड़ा खुला छोड़ देता था। यह घोड़ा अपनी इच्छा से जहाँ चाहता था जाता था कोई भी उसे न तो बाँध सकता था और न ही उसे कष्ट पहुँचाता था पर जो कोई उस घोड़े को रोक लेता था उससे रक्षक लोग युद्ध करते थे और घोड़े को छुड़ा लेते थे। यों एक वर्ष तक बिना रोक टोक घूमते रहने से ही सिद्ध हो जाता था कि सारे देश में कोई राजा घोड़े के स्वामी की बराबरी या बढ़ाई का दावा नहीं रखता। फिर एक बड़ा भारी यज्ञ किया जाता था, जिसमें देश के सारे राजे महाराजे सम्मिलित होते थे और यज्ञ का सारा काम अपने हाथों से करते थे। इस यज्ञ का करने वाला इस प्रकार महाराजाधिराज माना जाता था। युधिष्ठिर ने मंत्रियों और भ्राताओं को बुलाकर पूछा ''क्या मैं राजसूय यज्ञ कर सकता हूँ?'' उन सब ने उत्तर दिया ''हाँ अवश्य कर सकते हैं आप उसके योग्य पात्र हैं।'' धौम्य द्वैपायनादि ऋषियों को बुलाकर पूछा ''क्या मैं राजसूय यज्ञ कर सकता हूँ।' उन्होंने भी कहा ''हाँ कर सकते हो आप उसके उपयुक्त पात्र हैं।'' परन्तु तो भी युधिष्ठिर को सन्तोष न हुआ। अर्जुन हों चाहे व्यास जी, उसे किसी का भरोसा नहीं था। वह श्रीकृष्ण के परामर्श

बिना कोई काम नहीं करता था क्योंकि वह उन्हें सबसे श्रेष्ठ मानता था। इसलिये उसने महाबाहु श्रीकृष्ण से परामर्श करना स्थिर किया। उसने कृष्ण को बुलावा भेजा। श्रीकृष्ण समाचार पाते ही आ पहुँचे।

क्यों कृष्ण से उसने पूछा, यह भी वह साफ-साफ कृष्ण से कहता है ''मेरे और मित्रों ने यह यज्ञ करने की सम्मति दी, पर मैंने तुमसे पूछे बिना उसका निश्चय नहीं किया है। हे कृष्ण! कोई तो मित्रता के कारण मेरे दोष नहीं बताता, कोई स्वार्थवश मीठी-मीठी बातें कहता है, और कोई अपनी स्वार्थसिद्धि को ही प्रिय समझता है। हे महात्मन! इस पृथ्वी पर ऐसे मनुष्य ही अधिक हैं, इसलिये उनकी सम्मति लेकर कुछ काम नहीं किया जाता। तुम उक्त दोषों से रहित और काम क्रोध से विवर्जित हो, इस हेतु तुम मुझे यथार्थ परामर्श दो।

युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ करने के लिये सम्मति देने वाले तो बहुत से मिल गये परन्तु किसी ने यह अप्रिय सत्य कहने का साहस नहीं किया कि जब तक मगधराज जरासंध जैसा प्रभावशाली सम्राट् विद्यमान है, तो उनकी विद्यमानता में युधिष्ठिर को राजसूय यज्ञ में क्या सफलता मिलेगी? कृष्ण ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने युधिष्ठिर को स्पष्ट कह दिया–

महान् पराक्रमी जरासंध के जीते रहते आप कदापि राजसूय यज्ञ पूरा नहीं कर सकते। उसके परास्त करने के पश्चात् ही यह महान् कार्य सफल हो सकेगा।

जरासंध के पराक्रम और उसके अत्याचारों की चर्चा करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा गुणों की दृष्टि से तो आप सम्राट् बनने के योग्य अवश्य हैं। परन्तु इस समय एक महान् सम्राट मगधेश जरासंध पहले से विद्यमान् है। वह अपने बल-पराक्रम से सम्राट् बना है। ऐल तथा ऐक्ष्वाकु-वंश की इस समय 101 शाखायें हैं। अत्याचार से चाहे जरासंध ने उन्हें नीचा दिखा दिया हो, परन्तु उनके हृदयों पर उसका राज्य नहीं। 86 राजा तो उसने कैद ही कर रखे हैं और फिर घोषणा

कर रखी है कि जब इन कैदियों की संख्या 100 हो जायेगी तो महादेव के आगे इनकी बलि चढ़ा दी जायेगी। हमने अब तक यह नहीं सुना था कि किसी राष्ट्र के अभिषिक्त राजा को कोई सम्राट् पकड़ रखे। परन्तु इस नृशंस ने यह क्रूरता भी कर दिखाई है। क्षत्रिय का धर्म है रण में मरना। यह इन्हें बलि के पशु बना कर मारेगा। आओ हम सब मिलकर जरासंध की इस क्रूर इच्छा का प्रतिरोध करें। आज ख्याति का मार्ग यही है। इस समय वही सम्राट् बनने का अधिकारी है जो जरासंध को युद्ध में जीते।

सम्राट् बनने को यह कड़ी शर्त सुनकर युधिष्ठिर ने कानों पर हाथ धर लिया। जिसे यम नहीं जीत सकता, उसे हम कैसे जीत लेंगे। और फिर इतना जन-क्षय! लड़ाई का अर्थ है मनुष्यों को मारना और मरवाना। ऐसे सम्राट् बनने से तो साधु बनना अच्छा है। युधिष्ठिर ने स्पष्ट कहा, महाराज! मुझे यह सम्राट् पद अभीष्ट नहीं। धर्म-साम्राज्य संस्थापन के लिये यत्नशील श्रीकृष्ण अपनी मंत्रणा को इस सुगमता से टलने थोड़ा देने लगे थे? कहा, भरत की सन्तान, कुन्ती का पुत्र ऐसा निरुत्साह हो, यह आश्चर्य की बात है। जरासंध की सेनायें बड़ी हैं और संग्राम में खून खराबा भी बहुत होगा। इन दोनों अनिष्टों का उपाय है नीतिमत्ता। साँप भी मर जाये, लाठी भी न टूटे, ऐसी सुनीति कम देखने में आती है। यदि हम चुपके से बिना शोर मचाये उसके महलों में जा खड़े हों और उसे द्वन्द्व-युद्ध के लिये ललकारें तो इष्ट की सिद्धि भी हो जायेगी और व्यर्थ की जनहत्या भी न होगी। या हमने उसे लड़ाई में मार लिया या हम स्वयं मारे गये। यदि क्षत्रिय बन्धुओं की रक्षा में हमने अपने प्राण भी दे दिये तो सीधा स्वर्ग का रास्ता लिया।

यों भी जीवन का भरोसा किसे है? दिन को मारे जायें या रात को। युद्ध न करें तो मौत न होगी, यह भी तो नहीं कहा जा सकता। जरासंध के रक्षक दो पहलवान थे—हँस और डिंभक। वे मर गये। अब तो मुझे जरासंध की अपनी बारी आई प्रतीत होती हैं रण में उसे

जीतना असंभव है। परन्तु हाँ।! द्वंद्व-युद्ध में हम उसे मार लेंगे। मेरी नीति और भीम की शक्ति उसके प्राण लेके रहेगी। आप अर्जुन और भीम को मुझे अमानत रूप में दे दीजिए। फिर देखिए, हम तीनों क्या कर दिखाते हैं। युधिष्ठिर अमानत का शब्द सुन खिसियाना हो गया। कहा, महाराज! पाण्डवों के आप नाथ हैं, हम आपके आश्रय से जी रहे हैं। जरासंध भी मारा गया, राजा लोग भी छूट गये, राजसूय भी मैंने कर लिया। मेरा संकल्प अभी से सफल हुआ, हमने तो उसका सहारा लिया है, जो न्याय और नीति के सब विधान जानता है, जो लोक-प्रसिद्ध नीतिज्ञ है। फिर हमारे काम सिद्ध क्यों न हों? मेरे दोनों भाई आपके अर्पण हैं ले जाइये।

अर्जुन और भीम दोनों प्रसन्न थे। क्षत्रिय को धर्म-युद्ध मिले, उसे और क्या चाहिए? झट चलने को तैयार हो गये। जरासंध को मारने के निश्चय से श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीम इन्द्रप्रस्थ से मगध की ओर चले। जरासंध का यह व्रत था कि कोई ब्राह्मण अथवा स्नातक उससे मिलना चाहे तो चाहे आधी रात हो वह उससे मिल सकता था। बस इन तीनों ने स्नातकों का वेष धारण कर लिया। गिरिव्रज के चारों ओर पर्वतशृंग थे, उनमें से एक को तोड़ इन्होंने नगर में प्रवेश किया। जरासंध ने यथाविध स्वागत किया। भीम-अर्जुन आज मौनी बने थे। श्रीकृष्ण ने कहा आधी रात को ये मौन-व्रत तोड़ेंगे, महाराज उसी समय पधारें। जरासंध आधी रात को इनसे मिला तो इनके गिरिशृंग तोड़ने की कहानी सुन चुका था। अन्य चिह्नों से भी ताड़ गया, ये क्षत्रिय हैं। आते ही पूछा—

महानुभावो! यह वेष-परिवर्तन क्यों कर रखा है, किस निमित्त से यहाँ आना हुआ? सीधे द्वार से न आकर गिरिशृंग तोड़कर आने का क्या प्रयोजन है? ये सब बातें विस्तार से कहिए।

श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया जितना ब्राह्मण अर्थात् ब्रह्म का जानने वाला स्नातक होता है उतने ब्राह्मण तो हम हैं ही। रहा वर्ण सो स्नातक तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य सभी होते हैं। हम क्षत्रिय स्नातक हैं। पुष्पमाला सौभाग्य का चिह्न है, इसलिए धारण की है। मौनी इसलिये

हैं कि क्षत्रिय भुजा का बहादुर होता है, बातों का नहीं। द्वार से न आने का कारण यह है कि आप हमारे शत्रु हैं। शत्रु के नगर में दीवार तोड़ कर जाना चाहिये। इसी से आप हमारे आने का प्रयोजन समझ लीजिये। जरासंध ने उत्तर दिया–

ब्राह्मण श्रेष्ठ, मुझे स्मरण नहीं होता कि मैंने तुमसे कब शत्रुता की? बिना दोष तुम मुझे क्यों शत्रु समझते हो?

इस पर कृष्ण ने अपने असली मंतव्य को प्रकट किया। उन्होंने कहा कि महाराज, तुम जनसमाज के सब क्षत्रियों को बलपूर्वक पकड़ लाये हो, ऐसा अति कुटिल दोष करके क्यों अपने को निर्दोषी समझते हो, हे नृपश्रेष्ठ, राजा कहलाकर क्यों अन्य साधु राजाओं की हिंसा करते हो और रुद्रदेव के नाम से बलि चढ़ाना चाहते हो? हे जरासंध, तुम्हारा किया वह पाप हमको भी स्पर्श करता है क्योंकि हम धर्माचरण करने वाले हैं और धर्म की रक्षा में भी समर्थ हैं। बलि चढ़ाने के लिये नरहत्या कभी नहीं देखी गई, फिर तुम क्यों नर बलि के द्वारा यह यज्ञ करना चाहते हो? इस प्रकार जरासंध के समक्ष कृष्ण ने अपने उद्देश्य को स्पष्टरूप से प्रकट कर दिया और अपना परिचय तथा आगमन का उद्देश्य बताते हुए कहा–

मैं कृष्ण हूँ और यह दोनों पांडुपुत्र हैं। हे मगधनाथ, हम तुम्हें ललकारते हैं, स्थिर होकर लड़ो अथवा सब राजाओं को छोड़ दो, नहीं तो यम के घर जाओ।

जरासंध ने युद्ध के लिये भीम को पसन्द किया। पीछे वह यशस्वी ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करा क्षात्र धर्म के अनुसार धर्म और किरीट उतारकर भिड़ गया। उस समय पुरवासी ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, वनिता, वृद्ध सब युद्ध देखने को वहाँ इकट्ठे हुए। युद्ध स्थल दर्शकों से परिपूर्ण था। चौदह दिन तक युद्ध हुआ। चौदहवें दिन श्रीवसुदेव ने जरासंध को थका हुआ देख भीमकर्म्मा भीमसेन से पुकार कर कहा, हे कौन्तेय! थके हुए शत्रु को पीड़ित करना उचित नहीं।

अधिक सताने से मर जायेगा। अब इसे मत सताओ। इसके साथ बाहू युद्ध करो। जिस शत्रु का वध धर्म युद्ध में करना है उसे भी सताना न चाहिये।

परन्तु भीम ने सताकर जरासंध को मारा। भीम का धर्मज्ञान कृष्ण का सा नहीं हो सकता। जरासंध के मारे जाने पर कृष्ण और अर्जुन ने बंदी राजाओं को मुक्त किया, जरासंधवध का यही मुख्योद्देश्य था। इसलिये राजाओं को मुक्त कर उन्होंने और कुछ नहीं किया और वह सीधे अपने घर चले गये। वह हड़पू नहीं थे, पिता के दोष पर पुत्र का राज्य नहीं छीनते थे। उन्होंने जरासंध को मारकर उसके पुत्र सहदेव को राज सिंहासन पर बिठा दिया। सहदेव ने कुछ भेंट चढ़ायी वह उन्होंने ले ली। कैद से छूटे हुए राजाओं ने कृष्ण से पूछा कि हम सेवकों को क्या आज्ञा है? कृष्ण ने कहा कि राजा युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं, आप उन्हीं साम्राज्य चाहने वाले धर्मात्मा की सहायता कीजिये। युधिष्ठिर को प्रधान मानकर धर्मराज स्थापित करना इस समय कृष्ण के जीवन का उद्देश्य ही रहा है। इसी से वह पद-पद पर इसका उद्योग कर रहे हैं। युधिष्ठिर का यह कार्य कर कृष्ण द्वारिका लौटे। जाते समय पाँचों भाइयों ने हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की।

(11)

शिशुपालवध एवं शाल्ववध

युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ आरम्भ हुआ। देश-देशान्तरों के राजाओं, ऋषियों तथा प्रजाजनों से सारा नगर भर गया। पाण्डवों ने अपने नातेदारों को अलग-अलग एक-एक काम सौंप दिया जिससे यज्ञ भलीभाँति सम्पन्न हो जाये। भोजन विभाग का अधिकारी दुःशासन

हुआ, सेवा शुश्रूषा का काम संजय को दिया गया। रत्नों की रक्षा और दान दक्षिणा कृपाचार्य के जिम्मे हुई, भेंट पूजा लेना दुर्योधन के हाथ में रहा। इसी प्रकार सब लोग एक-एक काम पर नियत किये गये। श्रीकृष्ण ने ब्राह्मणों के चरण धोने का काम किया। आर्यावर्त के श्रेष्ठतम पुरुष के लिये यह कार्य उसकी महान् नम्रता और विनय भावना का सूचक है। कृष्ण के हृदय में ज्ञान और तप के भण्डार विप्रवरों के प्रति कितना आदर था, यह इस बात से भली भाँति प्रकट है।

राजसूय यज्ञ प्रारम्भ होने पर भीष्म ने युधिष्ठिर से कहा कि उपस्थित राजाओं में जो सबसे श्रेष्ठ है, उसे ही पहले अर्घ्य देना चाहिये। युधिष्ठिर ने बदले में पितामह से यह पूछा कि ऐसा व्यक्ति कौन है जो पहले अर्घ्य पाने का पात्र है? अतः युधिष्ठिर ने कहा कोई एक ही ऐसा पुरुष निर्धारित कीजिये जिसमें सब गुण विद्यमान हो। इस पर भीष्म ने कहा, जैसे सब ज्योतिमालाओं में आदित्य सबसे प्रकाशमान है वैसे ही इन राजाओं में श्रीकृष्ण तेज, बल पराक्रम से अति प्रकाशित दीख पड़ते हैं। अतः वे ही अर्घ्य के उपयुक्त पात्र हैं। भीष्म की सम्मति के अनुसार ही युधिष्ठिर की आज्ञा पाकर सहदेव ने कृष्ण को अर्घ्य प्रदान किया।

श्रीकृष्ण का यह सम्मान चेदिराज शिशुपाल से नहीं देखा गया। वह प्रारम्भ से ही श्रीकृष्ण का विरोधी था, श्रीकृष्ण का धर्म संस्थापन का महत्वपूर्ण कार्य उसे फूटी आँख भी नहीं सुहाता था। रुक्मिणी हरण की घटना से तो वह और भी खिन्न था और किसी न किसी तरह श्रीकृष्ण से बदला लेने की बात सोच रहा था। उसने पाण्डवों, भीष्म पितामह और श्रीकृष्ण को बहुत बुरा भला कहा और विशेष रूप से श्रीकृष्ण की निंदा करते हुए उसे अग्रपूजा का अनाधिकारी ठहराया।

शिशुपाल ने कहा कि श्रीकृष्ण पूजा का पात्र कदापि नहीं है। श्रीकृष्ण को यदि वृद्ध जानकर उसकी पूजा की हो तो उसके पिता

वसुदेव के विद्यमान रहते उसका पुत्र क्यों कर पूजनीय हुआ? यदि उसे अपना प्रिय और शुभेच्छु समझकर पूजा की तो द्रुपद के रहते माधव की पूजा क्यों की गई? यदि कृष्ण को आचार्य समझ कर पूजा है तो द्रोणाचार्य के रहते उसको पूजना उचित नहीं। अथवा उसे ऋत्विक मानकर पूजा हो तो कृष्ण द्वैपायन के रहते तुमने उसकी पूजा क्यों की? इसी प्रकार शिशुपाल ने भीष्म, अश्वत्थामा, दुर्योधन, कृपाचार्य, कर्ण आदि उपस्थित पुरुषों को कृष्ण से कहीं अधिक श्रेष्ठ बताया और उनकी विद्यमानता में कृष्ण को पूजना—जो उसकी दृष्टि में न ऋत्विक है, न आचार्य है और न राजा। अनुचित बताया उसके कथानुसार युधिष्ठिर ने कृष्ण को अर्घ्य देकर उपस्थित राजाओं का अपमान किया है। शिशुपाल ने युधिष्ठिर से यह भी कहा कि हमने भय, लोभ ढाढस के लिये तुम्हें कर दिया हो ऐसा नहीं, परन्तु तुम धर्म में प्रवृत्त होकर साम्राज्य की कामना कर रहे हो, इसीलिये हमने तुम्हें कर दिया है और अपना सम्राट् स्वीकार किया है। परन्तु तुमने हमारा अपमान किया है।

श्रीकृष्ण से उसने कहा, कि युधिष्ठिर चाहे भीत और कृपण बनें परन्तु तुम्हें तो अपनी अर्घ्य लेने की योग्यता पर विचार करना चाहिये था। शिशुपाल बोलते-बोलते वक्ताओं की तरह जोश में आ गया। फिर तर्क छोड़कर अलंकार में आ गया। विचार छोड़कर गालियाँ देने लगा। उसने कृष्ण को एकान्त में घृत की धार चाटने वाला कुत्ता और विवाहित नपुंसक भी कहा और अन्त में यह कह कर अपने मित्र राजाओं के साथ सभा-भवन को त्याग कर चला गया कि आज राजा युधिष्ठिर और भीष्म सभी के गुणों और अवगुणों का पता चल गया। क्षमा के मूर्तिमान अवतार, परमस्थितप्रज्ञ, योगिवर्य कृष्ण शिशुपाल की इन कटुक्तियों को सुन कर भी कुछ नहीं बोले। यदि वे चाहते तो

उसका कचूमर वहीं निकाल देते, इतना बल उनमें था, परन्तु वे अत्यंत धैर्यपूर्वक उसकी बातें सुनते रहें। युधिष्ठिर ने समझा बुझाकार शिशुपाल को ठंडा करने का प्रयत्न किया, परन्तु व्यर्थ। तब भीष्म ने कृष्ण की गुणावली इस प्रकार कह सुनाई।

मैंने बहुत ज्ञानवृद्ध महात्माओं का सत्संग किया है। वे श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर अब तक के महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन प्रशंसापूर्वक करते हैं। हम कृष्ण के यश और शौर्य पर मुग्ध हैं। ब्राह्मणों में ज्ञान की पूजा होती है, क्षत्रियों में वीरता की, वैश्यों में धन की और शूद्रों में आयु की। यहाँ मैं किसी ऐसे राजा को नहीं देखता, जिसे कृष्ण ने अतुल तेज से न जीता हो। वेद-वेदांग का ज्ञान और बल पृथिवी के तल पर इनके समान किसी और में नहीं। इनका दान, इनका कौशल, इनकी नम्रता, धैर्य और सन्तोष अतुलनीय हैं। ये ऋत्विक हैं, गुरु हैं जामाता होने के योग्य हैं, स्नातक हैं और लोक-प्रिय राजा हैं। ये सब गुण एक पुरुष में मानों मूर्त हो गये हैं। इसलिए इन्हें ही अर्घ्य दिया गया है।

फिर सहदेव कहने लगा कि यदि इस सभा में कोई पुरुष द्वेष वश कृष्ण के तेज और मान को सहन नहीं कर सकता तो उसके सिर पर मेरा पैर है। यदि वह वीर है तो मैदान में आवे, नहीं तो सबको उचित है कि दादा भीष्म के निर्णय को स्वीकार करे। इस पर शिशुपाल फिर से भीष्म और कृष्ण को बेतुकी बातें सुनाने लगगा, जिसका अन्त यह हुआ कि दोनों दलों में विवाद आरम्भ हुआ। एक ओर पांडव दल वाले कृष्ण का वर्णन करते थे और दूसरी ओर शिशुपाल उनका अवगुण वर्णन करता था। अभिप्राय यह है कि इसी प्रकार कुछ समय तक वाद विवाद होता रहा।

विचारा युधिष्ठिर अत्यंत दुःखित होकर दोनों पक्षों को शांत कर

रहा था परन्तु उसकी कोई सुनता न था। निदान उसने भीष्म से कहा कि पितामह! इस झगड़े को अब आपही शान्त कीजिये। भीष्म ने उत्तर दिया कि जब शिशुपाल और उसके पक्षवाले समझाने से नहीं मानते तो फिर इसके अतिरिक्त दूसरी क्या बात है, कि यदि उनमें से कोई अपने आपको कृष्ण से बली समझे तो वह उनसे युद्ध के लिये बढ़कर देख ले। फिर आप ही निर्णय हो जायेगा कि कृष्ण इस मान के योग्य हैं या नहीं।

शिशुपाल ने सबसे बुरी बात यह की कि राजाओं को उभारा और कहा–

मैं सेनापति हूँ। सब मेरी कमान में आ जाओ और इस राजसूय यज्ञ को होने ही न दें। हमने प्रीतिपूर्वक कर दिया है। इसके बदले में यह अपमान।

कृष्ण ने राजाओं को सम्बोधन कर इसकी पुरानी करतूतें सुनाईं और कहा कि–

फूफी के कहने से मैंने इसके सौ अपराध क्षमा किये पर आखिर क्षमा की भी हद है। हम प्राग्ज्योतिष गए हुए थे। इसने हमारे पीछे द्वारका जला दी। कारूषराज के कहने से अपनी मामी को उड़ा ले गया। मैंने फूफी के लिहाज से अब तक उपेक्षा की है। पर आखिर उपेक्षा कब तक? यह आज तो साम्राज्य को ही चौपट करना चाहता है। व्यतिक्रम असह्य है।

उन्होंने तुरन्त शिशुपाल के प्रस्ताव को स्वीकार किया और मैदान में निकल पड़े। कृष्ण की जय हुई। शिशुपाल मारा गया। शिशुपाल के सारे पक्षपाती अपना सा मुँह लेकर रह गये। महाराज युधिष्ठिर ने पहिले शिशुपाल का संस्कार किया। फिर उसके पुत्र को राजतिलक देकर यज्ञ रचाया। यज्ञ की समाप्ति पर जब सब अतिथि विदा हो चुके तो कृष्ण भी युधिष्ठिर और द्रौपदी की आज्ञा से द्वारकापुरी लौट गये।

मार्तिकावत के राजा का नाम शाल्व था। शाल्व के पास एक ऐसा विमान था, जिसमें जीवन की सब सुविधायें तो थीं ही साथ ही उसके द्वारा युद्ध भी किया जा सकता था। उसने युधिष्ठिर के राजसूय में शिशुपाल के वध का समाचार सुना तो झट आपे से बाहर हो गया। अभी श्रीकृष्ण इन्द्रप्रस्थ में ही थे कि शाल्व ने द्वारिका पर चढ़ाई करदी और श्रीकृष्ण को युद्ध का आह्वान देने लगा। जब कृष्ण को यह समाचार मिला कि शाल्व ने द्वारिका पर आक्रमण किया है तो वे तुरन्त उसकी रक्षा के लिए उपस्थित हो गये। घोर युद्ध के पश्चात् शाल्व मारा गया और द्वारिका विजय की उसकी कामना अपूर्ण ही रह गई।

(12)

पाण्डवप्रवास और महाभारत की तैयारियाँ

जिन दिनों श्रीकृष्ण सौभनगर की लड़ाई में लगे हुए थे, इन्द्रप्रस्थ में उन्हीं दिनों कई महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो गईं। श्रीकृष्ण की बुद्धि और पांडव-भाइयों के बल-पराक्रम से जो साम्राज्य मगध से हटकर इन्द्रप्रस्थ में आ स्थापित हुआ था, उसे युधिष्ठिर ने एक जुए के दाँव में हार दिया। साम्राज्य की स्थापना के दिन ही, कृष्ण के अर्घ्य-ग्रहण के परिणामस्वरूप उसमें राजाओं के गुप्त वैर का घातक घुन लग गया था। साम्राज्य के नाश का वास्तविक कारण तो वही था, परन्तु दैव की तरह राजनैतिक नाट्यशाला के सूत्रधारों को भी प्रकट के ढिंढोरे के लिए लोगों की आँखों में धूल झोंक सकने को बहाना चाहिए, सो जुआ था।

दुर्योधन पांडवों का चचेरा भाई था। उसकी इनसे बचपन से ही द्वेष-भावना थी। धृतराष्ट्र के पुत्र जिन दिनों बाल-पांडवों के साथ

खेला ही करते थे, तब भी भीम अपने बलाधिक्य के जोर से उन्हें बहुधा तंग किया करता था। वे वृक्ष पर चढ़ते तो यह भी उनके साथ चढ़ जाता और दोनों पाँवों से वृक्ष के तने को ऐसे जोर से हिलाता कि उनके प्राणों पर आ बनती। एक बार दुर्योधन पांडवों और कौरवों, सबको गंगा के किनारे जल-क्रीडा के लिए ले गया और उसने चुपके से भीम को विष दे दिया, जिससे इसे मूर्च्छा आ गई। इस दशा में उसने इसे गंगा में फेंक दिया। यह नाग-जाति के किसी पुरुष के हाथ लग गया, जो इसे घर ले गया और उसने सेवा-चिकित्सा से इसे ठीक कर दिया। कुछ समय पीछे दुर्योधन ने पांडवों को लाख से बने घर में बसा दिया। वह उसे आग लगाने ही वाला था कि माता सहित पांडव सुरंग के रास्ते वन में निकल गए।

इस अज्ञात अवस्था से वे द्रौपदी के स्वयंवर में ही प्रकट हुए। स्वयंवर में कुछ घटनाएँ ऐसी हो गईं कि स्वयं कुन्ती के कानीन पुत्र कर्ण की, जो कुन्ती का पुत्र होने से पांडवों का सहोदर ही था, अर्जुन से लग गई। अर्जुन ने स्वयंवर को जीत लिया और कर्ण को धनुष उठाने से पूर्व ही द्रौपदी ने दुत्कार दिया। वह इस अपमान के कारण द्रौपदी और अर्जुन,दोनों का ही आजीवन वैरी हो गया। उसे एक सूत ने पाला था, इसलिए वह सूत-पुत्र कहलाता था। जिन दिनों पांडव, कौरव कर्ण आदि द्रोण के पास शस्त्र-विद्या सीखते थे, तब भी एक दिन परीक्षा के अवसर पर अर्जुन ने कर्ण के सामने आने से यह कहकर इनकार किया था कि यह सूत है, यह क्षत्रिय-कुमार का जोड़ नहीं हो सकता।

स्वयंवर की मानहानि ने उस घाव को और भी ज्यादा कर दिया। दुर्योधन उस धनुर्वेद-साम्मुख्य में कर्ण के आड़े आया था। उसने उसे वहीं अंग-देश का राजा बना दिया था कि लीजिये, अब तो ये अभिषिक्त राजा हैं, अब इनसे लड़िये। इससे कर्ण दुर्योधन का अनन्य मित्र बन गया था। वे दोनों पांडवों के नाम से जलते थे। इस मित्रयुक्त में तीसरा शकुनि आ मिला था। वह गांधार-राज सुबल का

लड़का अर्थात् दुर्योधन का मामा था। उसका पांडवों के साथ राजसूय के समय से पहले ही वैर था।

राजसूयोत्सव में दुर्योधन और शकुनि दोनों आए थे। दुर्योधन राजाओं के पुरस्कार ले रहा था। दूर-दूर के राजाओं के बहुमूल्य उपहार देखकर तथा मय की रची अनुपमसभा और फिर उसमें इस शान का उत्सव होता अवलोकन कर उसके हृदय में वह पुरानी ईर्ष्या की आग कई गुणी होकर भड़क उठी। सभा का अवलोकन करते हुए एक-दो दुर्घटनाएँ ऐसी हो गईं जिन्होंने आग पर घी का काम किया। एक जगह स्फटिक की चादर थी। दुर्योधन समझा—पानी है। कपड़े ऊपर उठा लिये। आगे गया तो समझा—स्फटिक है। वह वास्तव में पानी था। उसमें गिर पड़ा और कपड़े भीग गए।

भीम ने यह दृश्य देखा तो खिलखिलाकर हँसा। नौकर-चाकर भी हँसे। चिर शत्रु की हँसी दुर्योधन को कालकूट प्रतीत होती थी। युधिष्ठिर ने कपड़े बदलवा दिये, परन्तु इतने से ही धोखों का अंत नहीं हो गया था। एक जगह दुर्योधन समझा—द्वार है, थी शीशे की दीवार, सिर फूट गया। आगे चले तो बड़ा द्वार देखा। प्रतीत होता था, बंद है—हाथों से उसे धकेलने लगे, वह खुला था—धम्म से नीचे गिर गए। इस पर खूब उपहास हुआ। फिर एक और द्वार देखा। वहाँ से लौट आए। ये सब मय की वास्तु-विद्या के चमत्कार थे।

शिशुपाल के वध की घटना दुर्योधन के हाथ में अन्य राजाओं को उकसाने का अच्छा बहाना हो गई। संभवतः वह उससे स्वयं भी आशंकित था। उसे डर था तो यह कि मैं अकेला हूँ, परन्तु शकुनि ने उसे विश्वास दिलाया कि और भी कितने ही राजा उसके साथ हैं। यह संक्षिप्त वृत्तान्त हमने यहाँ इसलिए दिया है कि पाठक आने वाले घटनाचक्र के मूल में काम कर रही इसी जीवनी के प्रमुख पात्रों के हृदयों की भावनाओं को समझ सकें।

शकुनि युधिष्ठिर की इस दुर्बलता को जानता था कि यदि उसे

द्यूत के लिए ललकारा जाये तो वह इनकार न करेगा। फिर शकुनि पक्का जुआरी था। दुर्योधन ने धृतराष्ट्र को उनके पितृ-सुलभ मोह के पाश में बाँध उनकी इस द्यूत साम्मुख्य के लिए हाँ करा ली। विदुर ने जुए के प्रस्ताव का अत्यन्त विरोध किया। उन्होंने यहाँ तक भी कह दिया कि यदि दुर्योधन इस दुष्कर्म पर तुला है तो उसे राजपद से च्युत कर दिया जाये। अर्जुन को आज्ञा दीजिए कि इसे पकड़ ले जाये। परन्तु राजा को परम दैवत मानने वाले नीतिज्ञ इस साधु की बात पर कहाँ ध्यान देने लगे थे। युधिष्ठिर जुआ खेलने हस्तिनापुर दौड़े आए। सभा में बालीक, शल्य, सोमदत्त, जयद्रथ आदि विद्रोही विद्यमान थे ही। शकुनि का छल काम कर गया। युधिष्ठिर ने एक-दो दाँवों में सारा साम्राज्य फिर क्रमशः चारों भाई, तत्पश्चात् अपने-आपको और अन्त में द्रौपदी तक को हार दिया।

अब क्या था। कर्ण की बन आई। यार लोगों में कनखियाँ होने लगीं। दुर्योधन ने आज्ञा दी कि द्रौपदी को सभा में लाया जाये। विदुर ने डाँटा, परन्तु उसकी कौन सुनता था। दुःशासन गया और उसे एक वस्त्र में ही सभा में घसीट लाया। सभा में मानो गुण्डों की प्रधानता हो रही थी। किसी ने उसे दासी कहा, किसी ने वेश्या। कर्ण ने उसे झट दूसरा पति चुनने का आदेश दिया। दुर्योधन ने अपनी रान से कपड़ा उठा लिया। कहा – यहाँ बैठ! पांडवों को यह अपमान असह्य था। परन्तु अब तो वे दास थे। वे कर ही क्या सकते थे!

भीम ने आवेश में आकर दो प्रतिज्ञाएँ कर डालीं– एक दुःशासन की छाती का रुधिर पीने की, दूसरी दुर्योधन की वह रान गदा से तोड़ देने की। द्रौपदी ने सभा में ही एक समस्या खड़ी कर दी। वह यह कि क्या अपने-आपको हार चुका युधिष्ठिर और किसी को हारने का अधिकार रखता है? उत्तर किसी के पास नहीं बना। अन्त में धृतराष्ट्र को इस सारे वृत्तांत का पता लगा, तो उसे क्रोध आया। उसने द्रौपदी को बुलाकर कहा–"बेटी! तू मेरी बहुओं में बड़ी है। कोई वर माँग! द्रौपदी ने तुरन्त यह कृपा चाही कि युधिष्ठिर को दास-भाव से

मुक्त कर दिया जाये जिससे उसका लड़का दासपुत्र न कहलाये। धृतराष्ट्र ने यह वर प्रदान कर कहा– ''और वर माँग! दूसरे वर में द्रौपदी ने चारों पाण्डव स्वतंत्र करा लिये।

इस प्रकार जुए की सारी करामात धृतराष्ट्र ने चौपट कर दी। परन्तु पांडव इन्द्रप्रस्थ को जा ही रहे थे कि उन्हें फिर बुला लिया गया। दुर्योधन ने अपने पिता के पितृ-सुलभ मोह का फिर लाभ उठा कर इस बार उन्हें इस बात पर प्रसन्न कर लिया कि एक बार जुआ खेला जाए और जो हारे, वह परिवार-सहित बनवास को जाए। युधिष्ठिर ने भी टाली हुई बला फिर अपने सिर ले ली। जुए का परिणाम इस बार भी वही हुआ। पांडवों को द्रौपदी सहित 12 वर्ष बनवास और फिर एक वर्ष अज्ञातवास के लिए जाना पड़ा। शर्त यह थी कि यदि अज्ञातवास के दिनों में इनका पता लग जाये तो वनवास तथा अज्ञातवास नये सिरे से प्रारम्भ हो। उसमें फिर वही शर्त काम करे। दुर्योधन का विचार था कि बल-पराक्रम से जिन्हें नीचा दिखाना असंभव है, इस युक्ति से वे सदा के लिए परास्त रहेंगे; यह वनवास और अज्ञातवास का चक्र कभी समाप्त न होगा। आखिर कहीं भी छिपे पांडव पृथिवी से तो परे न चले जाएँगे।

पाण्डव इन शर्तों के साथ वनवास को जाने को ही थे कि और संबंधियों के साथ-साथ वृष्णि और अन्धक भी इन्हें मिलने आए। उनमें श्रीकृष्ण भी थे। द्रौपदी ने, जो उनकी सखी थी, अपनी व्यथा की कथा अत्यंत मर्म-भेदी शब्दों में उन्हें कह सुनाई। वह बहुत रोई, बहुत चिल्लाई। कृष्ण ने सान्त्वना देते हुए कहा–

मैं होता तो यह जुआ ही न होने देता। अब तो जो हुआ सो हुआ। किसी प्रकार ये तेरह वर्ष समाप्त हो जाएँ। फिर इस साम्राज्य की पुनः स्थापना की व्यवस्था करेंगे।

धृतराष्ट्र ने जब युधिष्ठिर को जुए में हारने पर 12 वर्ष का बनवास दिया तो उसके साथ यह बन्धन लगा दिया था कि 13वें वर्ष पांडु-पुत्र वेष बदल कर ऐसी सेवावृत्ति से जीवन निर्वाह करें जिससे

कि दुर्योधनादि को उनका पता न लगे। 12 वर्ष के निर्वासन के समय के व्यतीत हो जाने पर पाँचों पाण्डवों ने द्रौपदी सहित महाराज विराट के यहाँ नौकरी कर ली। ऐसी युक्ति से अपने को छिपा रखा कि 12 महीने तक विराट को भी पता न लगा कि उसके किंकरों में 5 क्षत्रियकुल भूषण वचन-बद्ध होकर उसकी सेवा टहल कर रहे हैं। दुर्योधन की बहुत खोज करने पर भी उनका कुछ पता न लगा। लीजिए 13वां वर्ष समाप्त होता है और महाभारत की नींव अभी से पड़ने लगी है।

महाभारत का यह प्रथम दृश्य महाराज विराट के महलों मे हो रहा है। अभिमन्यु-उत्तरा विवाह में आये हुए भारतवर्ष के विख्यात राजे महाराजे और विद्वान् ब्राह्मण एकत्र हैं और सोच विचार कर रहे हैं कि युधिष्ठिर का राज्य उसे दिला देने के लिये अब क्या कार्यवाही करनी चाहिये। सबसे पहले कृष्ण जी बोले कि ''युधिष्ठिर की दुःख कथा आप सब महाशयों पर विदित है। दुर्योधन ने युधिष्ठिर और उनके भाइयों का सर्वनाश करने के लिये जो पापपूर्ण प्रयोग समय-समय पर किये हैं, वह भी आप सब भली भाँति जानते हैं। उसकी तुलना में युधिष्ठिर का व्यवहार और आचरण आप लोगों पर प्रकट है। अन्याय से यदि उसे स्वर्ग का राज्य मिले, तो वह उसे स्वीकार नहीं कर सकता, और न्याय से यदि उसे एक गाँव मिले तो वह उसी पर सन्तोष कर लेगा। युधिष्ठिर और उसके भाइयों ने धृतराष्ट्र से जो जो प्रतिज्ञायें की उनका एक-एक अक्षर उन्होंने पूरा कर दिखाया। इसलिये अब धृतराष्ट्र को उचित है कि उनका राजपाट उन्हें लौटा दें। इसलिये मेरा प्रस्ताव है कि एक माननीय सदाचारी तथा धर्मात्मा दूत उसके पास भेजा जाये जो दुर्योधन का भाव जान के उसे इस बात पर तत्पर करे कि वह युधिष्ठिर का आधा राजपाट बाँट कर उसे दे दे और उससे मेल कर ले।

कृष्ण के बड़े भाई बलराम ने इस प्रस्ताव का अनुमोदन किया। परन्तु साथ ही इस बात के लिये दुःख भी प्रकट किया कि युधिष्ठिर ने जुये के दाँव में अपना सारा राजपाट खो दिया। उन्होंने भी सन्धि कर लेने पर जोर दिया।

उपरोक्त बातों को सुनकर राजकुमार सात्यकि उठ कर बोले कि मुझे इन दोनों भाइयों के कायरतापूर्ण भाषण पर खेद नहीं किन्तु मुझे तो उन पर खेद होता है, जो मौन साधे इनकी वक्तृता सुन रहे हैं। क्या कोई विचारवान् पुरुष मान सकता है, कि जुआ खेलने में युधिष्ठिर का अपराध था? क्षत्रिय का धर्म है कि यदि उसे कोई ललकारे तो वह उससे मुँह न मोड़े। दुर्योधन ने चालाकी से ऐसे पुरुषों को युधिष्ठिर से जुआ खेलने के लिए अग्रसर किया जो इस विद्या में निपुण थे। युधिष्ठिर धर्मानुसार खेलते रहे और हार गये। इससे उनका कोई अपराध नहीं कहा जा सकता। उन्होंने अपने वचन को अंत तक पूरा-पूरा निभाया। क्या ऐसी दशा में अब उनको उचित है कि वे दुर्योधन से निर्बल और कायरों के सदृश संधि करने की भिक्षा मांगें। अतएव मेरी सम्मति में तो उसे युद्ध की सूचना दे देनी चाहिये।

यदि वह युधिष्ठिर के पैरों पड़े, तो ठीक है। नहीं तो उसे उसके साथियों सहित यमलोक को पहुँचा दिया जाये। फिर महाराज द्रुपद सात्यकि को लक्ष्य करके कहने लगे– हे वीर! मैंने तेरी वक्तृता सुनी। मैं तुझसे सहमत हूँ। मेरी भी सम्मति है कि दुर्योधन यों सन्धि पर सहमत न होगा। धृतराष्ट्र अपने पुत्रों के वशीभूत होने के कारण उनका साथ देगा। भीष्म और द्रोण चित्त के ऐसे निर्बल हैं कि वे उसका साथ नहीं छोड़ेंगे। यद्यपि बलराम की सम्मति ठीक है परन्तु मैं नहीं मान सकता, कि दुर्योधन से चापलूसी की बातें करने से कुछ लाभ होगा। गधे के साथ नरमी करने से कार्य सिद्ध हो सकता है परन्तु भेड़िया नरमी के बर्ताव का पात्र नहीं। अतएव मेरी सम्मति है कि हम

शीघ्र युद्ध की तैयारियाँ आरम्भ कर दें और अपने इष्ट मित्र तथा संबंधियों को पत्र लिख दें कि वे अपनी सेना सहित तैयार रहें। इस बीच में एक दूत दुर्योधन के पास भेजें। मेरे पुरोहित उपस्थित हैं, इन्हें दूत बनाकर भेज दिया जाये कि वह दुर्योधन से जाकर बातें करे। महाराज द्रुपद का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया सभा विसर्जित हुई। दूत रवाना किया गया और कृष्ण और बलदेव द्वारिकापुरी को लौट आये।

(13)

संजय का दौत्य कर्म व श्रीकृष्ण का संधि उद्योग

महाराज द्रुपद ने जो दूत पाण्डवों की ओर से हस्तिनापुर भेजा था उसे कुछ सफलता नहीं मिली। भीष्म की सम्मति थी कि लड़ाई न हो, परन्तु कर्ण आदि बिना लड़े मानते ही न थे। अंत को धृतराष्ट्र ने संजय को दूत बनाकर पाण्डवों के पास भेजा। संजय ने बार-बार युधिष्ठिर को वैराग्य-धर्म का उपदेश किया कि यदि तुम्हारी जय भी हो जाये तो इससे लाभ क्या होगा? कुल का क्षय मुफ्त में हो जायेगा। इस विनाशी संसार में स्थिर पदार्थ तो कोई है नहीं। फिर किसलिए लड़ना?'' युधिष्ठिर ने कहा कि हम अपना अधिकार ही तो माँगते हैं। यदि शांति से मिल जाये तो युद्ध की आवश्यकता नहीं। फिर भी कृष्ण हम सब में पवित्र, विद्वान् और धर्म शास्त्र में निपुण हैं। कृष्ण से व्यवस्था ले लो कि इस समय क्या धर्म है। जो कुछ वह व्यवस्था देंगे वह मुझे स्वीकृत होगी। इस पर कृष्ण जी ने संजय की ओर फिर कर इस प्रकार कहना आरम्भ किया–

''हे संजय! ज्ञान और कर्म विषयक् जो उपदेश तुमने किया है,

यह ऐसा विषय है कि उसके बारे में ब्राह्मणों की कभी एक सम्मति नहीं रही है। कुछ लोगों का विचार यह है कि परलोक की सिद्धि शुभ कर्मों से ही होती है। और कुछ कहते हैं कि मुक्ति केवल ज्ञान से मिलती है और कर्मों का नाश करना ही जरूरी है। ब्राह्मण जानते हैं कि केवल खाने के पदार्थों के ज्ञान से ही भूख का नाश नहीं होगा जब तक भोजन नहीं करेंगे। ज्ञानकाण्ड की वह शाखा जो कर्मकाण्ड में सहायता देती है, अधिक फलदायक है। क्योंकि कर्म का फल प्रत्यक्ष है। प्यासा पानी पीता है और पानी से उसकी प्यास बुझ जाती है। इससे स्पष्ट है कि केवल ज्ञान से कर्म की अधिक श्रेष्ठता है। सृष्टि में कर्म ही प्रधान दीख पड़ता है। वायु, सूर्य, चन्द्रमा अग्नि और पृथ्वी सब कर्म करते हुए अपना-अपना धर्म पालन कर रहे हैं। सारे आप्त पुरुषों, विद्वान् ब्राह्मणों-क्षत्रियों और ऋषियों की यही व्यवस्था है। शास्त्र कहता है कि अधर्मी पापी और दस्युओं को शस्त्र से दण्ड देना क्षत्रिय धर्म है और इससे क्षत्रिय की स्वर्ग प्राप्ति होती है, इसलिये ऐसी अवस्था में लड़ाई करना कैसे पाप हो सकता है।''

अन्त में श्रीकृष्ण ने उसे वैराग्य के उपदेश का उत्तर दिया। इन्होंने कहा कि धर्म प्रत्येक वर्ण और आश्रम का अपना-अपना है। क्षत्रिय को अपना अधिकार नहीं छोड़ना चाहिये। यह वैराग्य धर्म उस समय कहाँ गया था, जब शकुनि ने छल से युधिष्ठिर का राज्य छीना था? उस समय वैराग्य कहाँ गया था जब द्रौपदी का भरी सभा में अपमान हुआ था? विदुर के सिवाय उस समय किसी के मुँह में जबान भी न थी? द्रौपदी ही की बुद्धि ने उस समय पाण्डवों को मृत्यु के मुख से बचा लिया। नहीं तो सारे कुल का बंटाधार हो ही चुका था। अस्तु अब मैं स्वयं वहाँ जाऊँगा और दुर्योधन को समझाऊँगा। यदि समझ गया तो मुझे भी पुण्य होगा और कौरव भी मृत्यु पाश से बच जायेंगे। नहीं तो फिर भीम की गदा और अर्जुन के तीर अपने आप निपटारा करा लेंगे। हमारी दृष्टि में पाँडव और कौरव एक ही महाद्रुम की शाखायें हैं। उन्हें इकट्ठा फलना-फूलना चाहिए यह न हो सके तो जो

हो सके वही कीजिए। पाण्डव सन्धि के लिये भी तैयार हैं, विग्रह के लिए भी। संजय लौटने लगा तो युधिष्ठिर ने हस्तिानापुर में रहने वाले सभी संबंधियों के लिए यथा योग्य सत्कार तथा प्यार के संदेश दिये। संजय ने धृतराष्ट्र को यह सब वृतान्त कह सुनाया।

इधर श्रीकृष्ण हस्तिनापुर जाने की तैयारी करने लगे। पाण्डव स्वयं तो इनके जाने की आवश्यकता ही नहीं समझते थे, परन्तु फिर इनकी सम्मति के आगे सिर भी झुका देते थे। इन्होंने उन्हें समझाया कि भाई! देखो संसार में घटनाओं के दो आधार हैं—एक पुरुषार्थ, दूसरा दैव। मैं पुरुषार्थ तो कर सकता हूँ दैव मेरे अधीन नहीं। फल क्या होगा, क्या न होगा? यह मैं नहीं जानता। मुझे तो इतना ही ज्ञान है कि मुझे शक्ति भर प्रयत्न कर लेना चाहिये। और यदि दुर्योधन नहीं माना तो भी मैं उसकी करतूत वहाँ एकत्र हुए राजाओं के आगे प्रकट कर आऊँगा। इससे भी युधिष्ठिर का कार्य सधेगा। कृष्ण के प्रस्थान करने के पहले फिर राज धर्म पर युधिष्ठिर को उपदेश दिया जिसमें युधिष्ठिर सन्धि की आशा पर अपनी तैयारियों से असावधान न हो जाये और कहा कि—

''जहाँ मनुष्य का कर्त्तव्य है कि अपनी आकांक्षाओं की सिद्धि के हेतु समस्त युक्तियाँ जो उससे हो सकती हैं करें वहाँ उसका यह भी धर्म है कि केवल अपनी युक्तियों के ही ताव में न रहे वरन् जो कुछ करता है उसे ईश्वर के अधीन समझकर करे जिसमें परमात्मा उसकी युक्तियों में सहायता दे। किसान अपने क्षेत्र में हल चलाता है बीज बोता है, पानी से सींचता है परन्तु पानी बरसाना उसकी शक्ति से बाहर है। क्योंकि यह काम परमेश्वर के अधीन है। इसलिये जो काम हम करें वह परमेश्वर परायण होकर करें और परमात्मा पर विश्वास रखें कि यदि उसकी इच्छा होगी तो वह हमारी मनोकामना को पूर्ण करेगा।

कृष्णजी युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन से विदा होने के पश्चात् नकुल सहदेव और सात्यकि से मिलने आये। इतने में द्रौपदी भी आगे बढ़ी और अपने केश हाथ में लेकर आँसुओं की लड़ी गिराते हुए कहने

लगी कि हे कृष्ण एक बार इधर देखो यही वे बाल हैं जिन्हें दुःशासन के दुष्ट हाथों ने भरी सभा में खींचा। सखे! कृष्ण! जहाँ-जहाँ सन्धि का विचार करना इन बालों का स्मरण कर लेना। मुझको दुःशासन ने इन केशों को पकड़ सभा के बीच अपमानित किया था। उस समय अर्जुन और भीम की वीरता काम न आई और किसी ने यह न विचारा कि यह महाराज द्रुपद की पुत्री, महाराज पाण्डु की पुत्रवधू और धृष्टधुम्न की बहिन है, क्या आप नहीं जानते कि खूनी का खून क्षमा करना महापाप है। जो पुरुष दण्डनीय है उसका दण्ड क्षमा करना स्वयम् एक अपराध है।

श्रीकृष्ण ने द्रौपदी को धैर्य बँधाया और कहा हे महारानी! तू धैर्य धर यदि दुर्योधन ने मेरी बात न मानी तो वह पश्चाताप करेगा। उसकी रानियाँ विलाप करेंगी। तेरे पति विजय पावेंगे और तुझे फिर राज सिंहासन पर बिठायेंगे। इस तरह सब को सांत्वना देकर कृष्णजी चलने लगे। दुर्योधन की दुष्टता से अपनी रक्षा के लिये उन्होंने 2000 सैनिक अपने साथ लेकर हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया। रास्ते में सायंकाल हो गया। श्रीकृष्ण ने रथ से उतर कर सन्ध्या की। रात वहीं रास्ते में काट दी। दूसरे दिन हस्तिनापुर पहुँचे। बड़े ठाट-बाट से इनका स्वागत हुआ। राजा धृतराष्ट्र से मिलकर ये अपनी फूफी कुन्ती के पास गये।

किस में शक्ति है जो 13 वर्ष से अपने प्यारे पुत्रों की बाट जोह रही माता में हृदय के हाहाकार को शब्दों से बाँध सके। 13 वर्ष हुए कि जब वे युधिष्ठिर की कमजोरी से अथवा दुर्योधन की चाण्डाल-चौकड़ी की छलना से राज-पाट रहित करके निर्वासित कर दिये गये थे। 13 वर्ष हुए कि जब उन्होंने अपनी बिलखती हुई माता को महलों में छोड़ा था। कृष्ण के मिलने से दुःखिया माँ की आशा-लता लहलहा उठी साथ ही कृष्ण के आगमन ने मानो उसके घावों को हरा कर दिया। कुन्ती ने रोते-रोते कृष्ण पर अपने प्रश्नों की बौछार कर दी और अन्त में वह बोली कि हे कृष्ण! जा, अर्जुन और भीम से कह दे

कि जिस दिन के लिये क्षत्राणियाँ पुत्र जनती हैं, वह दिन आ पहुँचा है। यदि इस समय तुम चूक गये तो सारा संसार तुम्हें तुच्छ समझेगा। इसके पश्चात् वे दुर्योधन के यहाँ गये। उनका मधुपर्क तो स्वीकार किया परन्तु जब दुर्योधन ने भोजन के लिए कहा तो कृष्ण जी ने कहा–

राजन! किसी के घर का अन्न दो कारणों से खाया जाता है या तो प्रेम के कारण या आपत्ति पड़ने पर। प्रीति तो तुममें नहीं है और संकट में हम नहीं है।

रात का भोजन करने के पश्चात् जब विदुर और कृष्ण इकट्ठे हुए तो विदुर ने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण! मुझे पूर्ण विश्वास है कि तुम्हारे उपदेश से कुछ लाभ न होगा। जिस प्रकार चाण्डाल के सामने ब्राह्मणों के वचन का सत्कार नहीं होता उसी तरह दुर्योधन की सभा में तुम्हारे कथन का सम्मान नहीं होगा। ऐसे व्यर्थ काम से दूर रहना ही अच्छा है। महाराज ने इसका जो उत्तर दिया उससे एक बार यह और अधिक स्पष्ट होगा कि वे शान्ति के प्रबल इच्छुक थे।

श्री कृष्ण गम्भीर होकर बोले–कि दुर्योधन की दुष्टता का मुझे ज्ञान है। परन्तु सारी पृथिवी रुधिर से लथपथ होती देख रहा नहीं जाता। कितना रुधिर होने को है। कैसी भयानक आपत्ति संसार पर आयेगी, यह सोच विवश हो गया हूँ। ऐसे समय जो मनुष्य इन करोड़ों लड़ैतों को मृत्यु के मुख से खींच ले वह अत्यन्त पुण्य का भागी होगा। यह भीड़ दुर्योधन और कर्ण की लाई हुई है। इन्हें समझाऊँगा। कर्ण को पाण्डव-पक्ष ग्रहण करने की प्रेरणा करने के पीछे भी कृष्ण की मूल भावना शान्ति-स्थापना की थी क्योंकि कर्ण को अपने साथ न पाकर दुर्योधन कदापि युद्ध की ठान नहीं सकता। लाख वैरी हों, आखिर अपने हैं। जो मित्र को किसी व्यसन का शिकार होता देख बचाता नहीं, वह क्रूर है। आपत्ति में पड़ते आत्मीय को केशों से पकड कर भी खींचने का यत्न करे तब मनुष्य निंदा का पात्र नहीं होता। मैं तो कौरवों के हित की भी कहूँगा, पांडवों के भी भले की। यदि दुर्योधन

को फिर भी शंका बनी रहे तो बनी रहे। मेरा अपना हृदय संतुष्ट होगा। मेरे सिर से कर्तव्य का भार उतर जायेगा। फिर कोई यह न कह सकेगा कि कृष्ण ने दो बांधव दलों को लड़ते देखा और उन्हें छुड़ा न दिया। वह चाहता तो छुड़ा सकता था। मैं चाहता हूँ कि शान्ति हो जाये। पांडवों के अधिकार का लोप न कर और सब उपाय उसके लिये करूँगा। प्रातःकाल संध्या-हवन से निवृत्त हो श्रीकृष्ण धृतराष्ट्र की सभा में जा विराजे। कुछ इधर-उधर की बातचीत होने के उपरांत कृष्णचन्द्र धृतराष्ट्र से यों कहने लगे–

''इस समय भारतवर्ष में आपका कुल श्रेष्ठ है। इसमें विद्या है, शील है, दयालुता है, सरलता है, सत्य है। वृद्ध होने से इस कुल के आधार आप हैं। परन्तु आपकी सन्तान बिगड़ रही है। उन्होंने धर्म, अर्थ दोनों छोड़ रक्खे हैं। मर्यादा में न रहकर वे अपने भाइयों से ही क्रूरता का व्यवहार कर रहे हैं। इसका परिणाम वह घोर आपत्ति है जो इस कुल पर आने वाली है। यदि इसका प्रतिबंध न हुआ तो संसार का क्षय हो जाएगा। आप चाहें तो इसे रोक सकते हैं। इस समय भारत का भाग्य एक आपके अधीन है, दूसरे मेरे। आप कौरवों को रोकिये, मैं पाण्डवों को रोक दूँगा। यदि आज आप पाण्डवों को अपने पक्ष में कर लें तो संसार में आपको जीतने वाला कोई न रहेगा। पाण्डव बड़ी शक्ति हैं और वह शक्ति आपकी हो सकती हैं और जो युद्ध हो ही गया तो राजा सभी देशों के आए ही हुए हैं। वे लडेंगे और सारी प्रजाओं का नाश करा देंगे। महाराज! इन निरपराध प्रजाओं का वास्ता! इन्हें बचाइये! विमल आचार के निष्कलंक आर्य लोग आपस में लड़-लड़कर मर जायेंगे। इन्हें बचाइये! कौरवों-पाण्डवों में संधि हो जाये तो सभी राजा लोग इकट्ठे खा-पी तथा मंगल मनाकर अपनी-अपनी राजधानियों को लौट जाएँ। पाण्डव तो बचपन से ही आपके पास पले हैं। वही वात्सल्य दृष्टि उनमें फिर से रखिये। पाण्डवों ने आपको अभिवादन कर यह कहा–हमने द्यूत की शर्त पूरी कर दी। बारह वर्ष वनवास और एक वर्ष अज्ञातवास का घोर व्रत पूरा

कर दिया। अब आपको अपना कर्त्तव्य पूरा करना चाहिये। हमारी आपमें पितृ-बुद्धि है। आप हममें पुत्रबुद्धि रखिये। आपकी सभा में कई वृद्ध आप्त पुरुष विद्यमान हैं। उनके रहते यहाँ सत्य का लोप नहीं हो सकता। यदि मेरा विचार धर्म-अर्थ का विरोधी नहीं तो आप इसका अनुसरण कीजिये। युधिष्ठिर के धैर्य को देखिये कि प्राप्त किये साम्राज्य को, एक बार स्वीकार किये नियम के लिए झट त्याग दिया। द्रौपदी के अपमान को सह गया। आप अब उनसे वह व्यवहार कीजिये जो क्षत्रियों की आन के अनुकूल हो। मृत्यु के मुख में दौड़ी जा रही प्रजा की रक्षा आपके हाथ में है।''

राजा धृतराष्ट्र ने उत्तर में कहा ''केशव! तुमने जो कुछ कहा, सत्य है। स्वर्गलोक जाने का यही मार्ग है! धर्म मर्यादा वही है जो तुमने बतलाया, परन्तु क्या तुम जानते नहीं कि मेरा वश नहीं। दुर्योधन मेरी आज्ञानुसार काम नहीं करता और न वह अपनी माता गांधारी का कहना मानता है। उस पर किसी के सदुपदेश का प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये हे कृष्ण! तुम ही कृपा करके उसे समझाओ जिससे वह इस पाप से बचे। तब श्री महाराज दुर्योधन को समझाने लगे—भाई! जब पैदा एक महान् कुल में हुए हो, विद्या प्राप्त की है, शूर हो, फिर शील क्यों कुल-हीनों का सा दिखाते हो? अपने भाइयों से व्यर्थ का वैर और परायों के सहारे इतना गर्व? अपने सारे मित्रों में कोई अर्जुन और भीम सा बली दिखाओ तो सही। अच्छा, युद्ध हो ही गया। उसका परिणाम? कुल का नाश! तुम्हें सभी कुलघ्न कहेंगे। सन्धि कर लो। धृतराष्ट्र राजा रहे और तुम युवराज क्यों? है स्वीकार?

इस पर भीष्म, विदुर, द्रोण सबने समझाया परन्तु दुर्योधन ने एक न सुनी। उसने कहा कि जब तक धृतराष्ट्र स्वयं राज्य करते थे, मैंने हथियार डाल रखे थे। परन्तु जब इन्होंने राज्य मुझे दे दिया, चाहे अज्ञान से चाहे भय से, तो अब तो मेरी ही चलेगी। मैं सुई की नोंक भर भूमि भी पांडवों को न दूँगा। उन्होंने राज्य जुए में हारा है। इसमें हमारा अपराध क्या? अब वे अशक्त पुरुषों की तरह समर्थों पर वृथा

क्रोध झाड़ रहे हैं ।

दुर्योधन की ये बातें सुनकर श्रीकृष्ण ने विराट् रूप धारण किया और क्रुद्ध होकर कहने लगे कि हे दुर्योधन ! क्या सचमुच तू बाणों की शय्या पर सोना चाहता है ? अच्छा ! तेरी इच्छा पूर्ण हो और शीघ्र पूर्ण हो । हे मूर्ख ! क्या तू समझता है कि मैंने पाण्डवों के साथ कोई अन्याय नहीं किया है ? ये सारे राजे महाराजे जो यहाँ वर्तमान हैं क्या यह कह सकते हैं कि तेरा यह कथन सत्य है ? तू ने पांडवों को हानि पहुँचाने और उनको मारने के लिये क्या कुछ नहीं किया ? उन्होंने दुर्योधन की एक-एक करके सारी अनीतियाँ सुनाई और फिर कहने लगे कि हे पापी ! क्या जुआ खेलना और फिर जुए में भी छल-प्रयोग, द्रौपदी-अपमान आदि भीषण अपराध नहीं है ? सत्य है, जब बुरे दिन आते हैं तो बुद्धि विपरीत हो जाती है और मनुष्य अभिमान से पूर्ण अपने इष्ट मित्रों के उपदेशों को तुच्छ समझने लगता है ।

यह सुनकर दुर्योधन पहिले तो बड़े सोच में पड़ गया फिर सर्प की तरह फुफकारता हुआ उठकर दरबार से चला गया । उसके साथ ही उसके भाई-बंधु और इष्ट मित्र भी चलते हुए । कृष्ण ने धृतराष्ट्र से कहा हे राजन् ! अब तुम्हें भी उचित है कि तुम अपने इस दुराचारी पुत्र को बंदी कर लो । बुद्धिमानी तो इसी में है, कि कुल की भलाई के लिए एक पुरुष की परवाह न की जाये । यदि कुल के अनहित में देश या जाति का हित हो तो कुल की परवाह न करनी चाहिये और आत्मा के उपकार के लिए संसार की परवाह नहीं की जाती । मैंने भी जातिहित की दृष्टि से अपने मामा-कंस का वध किया था । इसलिये हे राजन् ! दुर्योधन को बंदी करके पांडवों से सन्धि कर लो ।

धृतराष्ट्र में इतनी सामर्थ्य कहाँ थी जो कृष्ण की इस युक्ति को स्वीकार करता । तुरन्त उसने अपनी रानी गांधारी को दुर्योधन को समझाने के लिए कहा । गांधारी ने दुर्योधन को सर्व प्रकार से ऊँचा-नीचा समझाया । कभी उसकी अर्जुन और कृष्ण की वीरता का भय देती थी और कभी भीष्म धृतराष्ट्र और द्रोणादि के अप्रसन्न हो

जाने का भय दिखाती थी पर उसने कुछ न मानी। अन्त में उठ खड़ा हुआ और दरबार से चलता हुआ।

सभा से बाहर आकर दुर्योधन ने अपने भाई बन्धुओं से परामर्श कर कृष्ण को बंदी करने के लिये समय निश्चित किया परन्तु वह बात पूरी भी होने न पाई थी कि इसकी सूचना सात्यकि को मिल गई। उसने पहले तो अपनी सेना को तैयार होने की आज्ञा भेज दी। फिर कृष्ण को इस बात का समाचार दिया और उनकी आज्ञा से धृतराष्ट्र को बतलाया कि उसके पुत्र क्या मनसूबा बाँध रहे हैं। सारा दरबार यह सुनके दंग रह गया। क्योंकि प्राचीन काल में दूत को बंदी करना घोर पाप समझा जाता था। इसीलिये किसी को इसका विचार भी न था कि दुर्योधन ऐसी नीचता पर कमर बाँध लेगा। धृतराष्ट्र लज्जा और क्रोध से काँपने लगे और दुर्योधन को बुलाकर बहुत धिक्कारा। अन्ततः कृष्ण दरबार से विदा होकर कुन्ती के पास आये। कुन्ती ने अपने पुत्रों के लिये अन्तिम सन्देश देकर उन्हें प्यार से विदा किया।

कृष्णचन्द्र यद्यपि अन्तःकरण से चाहते थे कि लड़ाई न हो, परन्तु पांडवों को उनका स्वत्व न मिले और सन्धि हो जाये इस बात को पसन्द नहीं करते थे। वह इसे पाप समझते थे। इसलिये हस्तिनापुर से प्रस्थान करने के पूर्व उन्होंने यह युक्ति लगाई कि कर्ण को उसके जन्म का यथार्थ परिचय देकर उसे दुर्योधन की सहायता करने से रोकें। कृष्ण ने कर्ण को बहुत भाँति समझाया और पांडवों की ओर से यहाँ तक कि आप आयु में सबसे बड़े होने के कारण राज्य के अधिकारी हैं परन्तु इस पर भी कर्ण ने दुर्योधन का साथ छोड़ना अस्वीकार किया और अन्त में यह उत्तर दिया कि मैं दुर्योधन से उसका साथ देने का दृढ़ संकल्प कर चुका हूँ। अब यदि चक्रवर्ती राज्य भी मिले तो उसका साथ नहीं छोड़ सकता। मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है कि या तो अर्जुन को युद्ध क्षेत्र में नीचा दिखाकर यश और कीर्ति पाऊँगा या उसके हाथ से मारा जाकर स्वर्ग प्राप्त करूँगा। कृष्ण का यह अन्तिम शांति प्रयत्न भी विफल हुआ। अब इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय शेष न रहा कि

अपनी-अपनी सेना तैयार की जाये। जब कृष्ण हस्तिनापुर से लौट आये तो युधिष्ठिर ने अपनी सेना के साथ प्रस्थान किया और कुरुक्षेत्र के मैदान में आ जमे और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं।

(14)

अर्जुन के सारथी व अर्जुनमोह

विराट् नगर (जयपुर) की प्रथम सभा में ही यह स्पष्ट हो गया था कि कौरवों और पांडवों के विषय में यादवों की सहानुभूति दोनों पक्ष में बंटी हुई थी। श्रीकृष्ण के निकट यह एक विकट समस्या थी। युद्ध अब सुनिश्चित था। अतः समस्या भी अपना हल माँगती थी। पर्याप्त विचार के पश्चात् श्रीकृष्ण ने यही उचित समझा कि इस विषय में सबको स्वतंत्र छोड़ दिया जाये। वही स्वतंत्रता इनके अपने लिए भी थी। परन्तु इन्होंने अपनी विशेष स्थिति के कारण अपने ऊपर यह बंधन भी लगा लिया कि ये होंगे तो पाण्डवों की ओर परन्तु निरस्त्र। साँप भी मर जाये, लाठी भी न टूटे। ये उस समय के योद्धाओं के शिरोमणि थे, परन्तु रण में शूरता से कहीं बड़ा गुण इनकी रण-निपुणता थी।

पाण्डव इन्हें अपना कर्णधार रखना चाहते थे। जरासंध के वध से लेकर अब तक इनकी स्थिति इस कुल के संबंध में यही चली आई थी। ये अर्जुन के सारथी हो गये। अर्जुन पाण्डवों का मुख्य योद्धा था। इस प्रकार युद्ध की बागडोर भी इनके हाथ में रही और यादवों के वैमनस्य का भी अवसर न रहा। कृष्ण के इस निर्णय में नीति की वह चाल थी जो बड़े-बड़े नीतिज्ञों को दंग कर देगी। साम्राज्य को भी बचा लिया और संघ को भी हाथ से न जाने दिया। उधर समस्त देश का हित था, इधर सात्वत-वंश का। हित भी दोनों का साध लिया और

बात भी अपनी बनाये रखी ।

भरत सन्तान के इन दोनों वंशों में संधि कराने की कोई युक्ति शेष न रही । साम-दाम आदि प्रत्येक नीति काम में लाई गई । परन्तु किसी प्रकार भी अन्त अच्छा न निकला । तब अपने बाहुबल से अपना-अपना न्याय करना स्थिर किया गया । युद्ध ठन गया और दोनों ओर से सेना सुसज्जित कर सामने की गई । एक ओर से सेना का आधिपत्य भीष्मपितामह को दिया गया और दूसरी ओर धृष्टधुम्न को । शंख घड़ियाल आदि बाजों की ध्वनि से आकाश, पाताल गूँज उठा । घोड़ों की टाप से मानों पृथिवी कम्पायमान हो गई ।

इसी समय अर्जुन ने कृष्ण को कहा कि मेरा रथ दोनों सेनाओं के मध्य में खड़ा करो जिसमें दोनों दलों को मैं अच्छी तरह एक दृष्टि से देख लूँ । कृष्ण ने तत्काल आज्ञा का पालन किया और अर्जुन-कृष्ण दोनों सेनाओं के बीच आ खड़े हुये । ज्योंही अर्जुन की दृष्टि कुरुसेना पर पड़ी और भीष्म और द्रोण को देखा तो उनका हृदय विचलित हो गया । इस समय वैराग्य के भाव उनके हृदय में उठने लगे । यहाँ तक कि अर्जुन ने विवश होकर कहा कि सांसारिक सुख या राजपाट के लिये मुझे भीष्म और द्रोण जैसे सत्पुरुष और धृतराष्ट्र के पुत्रों का वध करना स्वीकार नहीं । मैं युद्ध नहीं करूँगा । कृष्ण उनकी यह बात सुनकर आश्चर्यचकित रह गये ।

दोनों सेनाओं की ओर संकेत करके कहने लगे कि हे अर्जुन तू आर्य है । आर्यों में तो ऐसी कायरता नहीं होती, जैसी इस समय तू दिखा रहा है । देख दोनों दल वाले लड़ने के लिये कमर बाँधे खड़े हैं । तू इस समय यदि मिथ्या वैराग्य में फँस कर मैदान छोड़ कर भाग खड़ा होगा तो लोग क्या कहेंगे? तेरे शत्रु तेरी वीरता में संदेह करके तेरी निन्दा करते फिरेंगे । क्षत्रिय का धर्म लड़ना है । क्षत्रिय युद्ध में मारे जाने से सीधे स्वर्ग जाता है । यदि तू सफल हुआ तो इस पृथ्वी का राज्य और सुख तेरे साथ रहेंगे । परन्तु अर्जुन के हृदय पर ऐसी चोट

लगी थी कि उस समझाने का कुछ भी असर उस पर न हुआ । अतः कृष्ण ने आत्मा के अमरत्व का उपदेश किया और कहा कि वह न तो जन्म लेता है और न मरता है । न कोई इसे जला सकता है और न मार सकता है । फिर तेरा विचार कैसा मिथ्या है कि मैं भीष्म और द्रोण को मार कर सांसारिक सुख भोगने की इच्छा नहीं रखता । न तुझमें यह शक्ति है—कि तू इनको मार सके । आत्मा पर न तो लोहे की मार है और न अग्नि की । मरने ओर मारने वाला तो यह शरीर है जो आत्मा का वस्त्र है । यह शरीर नाशवान् है । परमात्मा ने जो धर्म जीवात्मा के लिये नियत किया है उसके पूरा करने के लिये उसकी योग्यतानुसार उसे वह शरीर प्रदान किया जाता है ।

जीवात्मा का यह काम नहीं कि इस शरीर के रक्षार्थ अपना धर्म कर्म छोड़ दे और ममता के भ्रम में पड़कर यथार्थ धर्म का परित्याग करे । जीवात्मा का यही धर्म है, कि शरीर से वही काम ले जिसके लिये यह दिया गया है । यह शरीर धर्म के अनुकूल कर्म करने के लिये दिया गया है न कि अपनी इच्छानुसार काम करने के लिये । जो लोग अपनी इच्छा को प्रधान मानकर काम करते हैं वे कर्म के फेर में फंसे रहकर यथार्थ धर्म से दूर रह दुःख-सुख के बन्धन में फँसे रहते हैं । परन्तु जो लोग इच्छा का परित्याग करके शरीर को निष्काम कर्म में लगाते हैं वे सच्चाई को पाकर शारीरिक प्रयोजन या उसके बन्धनों से स्वतंत्र हो जाते हैं और मोक्ष को प्राप्त होते हैं । अतएव तुझे उचित है कि क्षात्र धर्म का पालन करता हुआ ममता का विचार छोड़ दे और अपने धर्म पर स्थिर रह, क्योंकि ऐसा न करने से तू घोर पाप का भागी बनेगा और नरक में गिरेगा ।

(15)

भीष्म पर्व

इसके पश्चात् लड़ाई छिड़ गई। दस दिन तक कुरुसेना भीष्म के सेनापतित्व में लड़ती रही। भीष्म, सम्बन्ध में दोनों पक्षों के दादा थे। पाण्डवों को देखकर इनके हृदय में प्रेम उमड़ आता था। युद्ध के रोकने का इन्होंने भरसक प्रयत्न किया था। परन्तु दुर्योधन के दुराग्रह के आगे किसी की पेश न चली थी। वे पाण्डवों को बचाकर युद्ध करते थे। दूसरे दिन अर्जुन के बाणों से अपनी सेना का अधिक क्षय होता देख दुर्योधन ने भीष्म से कहा—जाइए दादा! बढ़ते हुए अर्जुन को आप ही रोकिए। इन्होंने अर्जुन पर प्रहार किया सही परन्तु ठंडी साँस लेकर क्षात्र धर्म को धिक्कार कर।

तीसरे दिन की लड़ाई में भीष्म ने युद्ध भूमि को रक्तमय कर दिया। वह जिधर घूम जाते थे उधर ही बात की बात में सैकड़ों और हज़ारों सैनिकों को मार डालते थे। कृष्ण ने इस दिन की लड़ाई से यह अनुभव किया कि अर्जुन जी से नहीं लड़ता और भीष्म पर वार करने से झिझकता है। उन्हें विश्वास था, कि अर्जुन के अतिरिक्त और किसी में यह पुरुषार्थ नहीं जो भीष्म को नीचा दिखावे और जब तक भीष्म जीवित हैं तब तक पांडवों का मनोरथ सफल होना दुर्लभ है। इसलिये तीसरे दिन की लड़ाई में जब इन्हें पूरा विश्वास हो गया कि अर्जुन जी तोड़ के नहीं लड़ता और भीष्म पर बाण चलाने से मुँह मोड़ता है तो वे मारे क्रोध के रथ से उतर पड़े और शस्त्र हाथ में ले यह कहते हुये भीष्म की ओर चले कि जिसको जाना हो वह चला जाये जो मरने से डरता है वह पीछे रहे। यदि कोई भीष्म पर वार नहीं करता तो मैं स्वयं ही भीष्म को मार गिराऊँगा।

भीष्म ने कृष्ण को अस्त्र उठाते हुए अपनी ओर आता देख हथियार डाल दिये और कहा कि– ''आप मुझे मार डालिये, आपके हाथों मरना अनुपम पुण्य है।'' श्रीकृष्ण ने डाँटा– ''यह युद्ध ही आपकी करतूत है। न आप द्यूत होने देते न ये बुरे दिन पृथ्वी पर आते और यदि दुर्योधन आपकी नहीं मानता था तो आपको उससे अलग हो जाना चाहिए था।'' भीष्म ने कहा–''राजा परम देवता है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता।'' श्रीकृष्ण ने झट उत्तर दिया–हमने कंस को छोड़ दिया था कि नहीं।''

श्रीकृष्ण की यह दशा देख अर्जुन कुछ लज्जित सा हुआ और मन में सोचने लगा कि श्रीकृष्ण ने तो लड़ाई में शस्त्र न चलाने का प्रण किया था, यदि वे क्रोध वश अपना प्रण भंग कर बैठे तो इसका पाप मेरे सिर होगा। यह सोचकर वे भी श्रीकृष्ण के पीछे हो लिये। कुछ दूर जाने पर उनको पकड़ लिया और शपथ खाकर कहने लगे कि आप चिन्ता न करें। मैं भीष्म को मारूँगा। इस क्रोध के आवेश से श्रीकृष्ण का यही अभिप्राय था। अतएव अर्जुन से यह बात सुनके कृष्ण ठंडे हो गये और फिर रथ पर आ बैठे। अर्जुन ने बड़े उत्साह से युद्ध आरम्भ किया। अब युद्ध का समां ही बदल गया।

अर्जुन पहले की अपेक्षा अच्छा लड़ने लगा। परन्तु फिर आखिर दादा-दादा ही हैं। अर्जुन के तीरों को फिर शिथिल देख श्रीकृष्ण ने पुनः शस्त्र-ग्रहण का प्रस्ताव रखा। श्रीकृष्ण के प्रस्ताव को सुनकर अर्जुन का हृदय अत्यंत खिन्न हुआ। वह खिसियाता होकर बोला–

''माधव कुल के लाल! मैं इस बूढ़े बाबा से कैसे लड़ूँ? बचपन में खेलते-खेलते मैंने अपने मिट्टी से लिथड़े शरीर से पितामह की गोद को कई बार मैला किया है। गोद में चढ़ते-चढ़ते मैंने कहा–बापू!

बाबा ने उत्तर दिया—तेरा बापू नहीं, मैं तो तेरे बाप का बापू हूँ। उन्हें मैं कैसे मार गिराऊँ। कदापि नहीं। सारी सेना मर जाये, मैं मर जाऊँ, विजय हो न हो, आप कुछ भी कहिये, मैं भीष्म बाबा का वध नहीं करूँगा।''

श्रीकृष्ण ने उपप्लव की बात को दुहराया और बृहस्पति के प्रमाण से कहा कि आततायी बड़ा हो, बूढ़ा हो गुणी हो उसे मार ही डालना चाहिये। यही क्षत्रिय का धर्म है।

आज युद्ध का दसवाँ दिन है। श्रीकृष्ण प्रेरित अर्जुन आज साक्षात् काल बनकर रण आंगण में प्रविष्ट हुआ है, देखते ही देखते अर्जुन ने अपने बाणों की बौछार से भीष्म के सारथी को मार डाला। फिर उनके धनुष को गिरा दिया। भीष्म जो तीर निकालते थे उसी को अर्जुन काट डालता था। अशक्त होने पर अपनी तलवार व ढाल लेकर वे रथ से उतरने लगे। कदाचित् इस विचार से कि अब तलवार की लड़ाई लड़ें। परन्तु अर्जुन ने तीरों की लगातार वर्षा से ढाल व तलवार भी हाथ से गिरा दी। यहाँ तक कि वृद्ध भीष्म नवयुवक अर्जुन के तीरों से अशक्त होकर भूमि पर गिर पड़े। इनके गिरते ही महाभारत के युद्ध का प्रथम दृश्य समाप्त हो गया। तीरों की शैय्या पर पड़े हुये भीष्म ने पुनः दुर्योधन को संधि करने का उपदेश किया परन्तु दुर्योधन कब मानने वाला था। युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण आदि सहित उनके पास उपदेश लेने के लिये गये।

भीष्म बुद्धि तथा विद्या के भण्डार थे। आयु बड़ी थी संसार देखा था। विनीत स्वभाव के थे। जीवन भर आप्त महात्माओं का संग किया था। कई राष्ट्रों को उठते और फिर बैठते देखा था। अर्जुन ने बाबा पर बाण नहीं चलाए, परन्तु वे चल ही गए। शिखण्डी के बाण वास्तव में उसी के थे। बूढ़े बाबा को शर-शैय्या पर सुलाने का श्रेय, महाभारतकार ने तो शिखण्डी ही को दिया है, परन्तु तत्वज्ञ भीष्म ने

अपने स्वर्गारोहण का सेहरा अपने पोते के ही सिर बाँधा । सायंकाल हो ही गया था । युद्ध यथा नियम बंद हो गया । पाण्डवों ने कुछ समय हर्ष के शंख बजाये। उनका सारा दल नाचा-कूदा। फिर शीघ्र शर-शैय्या-शायी पितामह के गिर्द सब इकट्ठे हो गए । दोनों पक्षों के राजाओं ने पितामह को अभिवादन किया । घायल बाबा का सर नीचे लटक रहा था । सिरहाने लाए गए, परन्तु भावुक बाबा को अपने पोते की धनुर्विद्या का एक और चमत्कार देखना अभीष्ट था । अर्जुन को बुलाया और कहा–''जैसी शैय्या दी है वैसा सिरहाना भी दो!'' अर्जुन ने कमान में चिल्ला चढ़ा तीन तीर लगाकर इस प्रकार चलाए कि भीष्म के लटक रहे सिर को सिरहाने का-सा सहारा मिल गया । पितामह ने शाबाशी दी । उन्होंने अपने मरने से पूर्व समाज-शास्त्र तथा राज्य- शास्त्र के जो महामूल्य मोती सरल-सरल कथानकों के रूप में युधिष्ठिर को अर्पण किये वह साहित्य की अमर निधि है ।

(16)

अभिमन्यु की वीरता व जयद्रथवध

भीष्म के पश्चात् द्रोणाचार्य कौरव सेना के सेनापति हुये । द्रोणपर्व के आरम्भ में कृष्ण के विषय में कोई महत्वपूर्ण उल्लेख नहीं है । कृष्ण अभिमन्यु वध के पश्चात् ही कार्यक्षेत्र में आते हैं । द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना की थी, जिसे भेदने की शक्ति पांडव पक्ष में अर्जुन को छोड़कर और किसी में नहीं थी । परन्तु दुर्भाग्वश अर्जुन उस दिन संशप्तकों से युद्ध करने चले गये । उसकी अनुपस्थिति में गुरु द्रोणाचार्य द्वारा रचित चक्रव्यूह का समाचार सुनकर पाण्डवों की सेना में बड़ी हलचल मची । कोई व्यक्ति चक्रव्यूह के रहस्य से अभिज्ञ नहीं

था । अन्त में अभिमन्यु इस काम के लिये तैयार हुआ । उसने उस दिन पाण्डव सेना का नेतृत्व किया और अकेला ही चक्रव्यूह में घुसकर कौरव सेना का हनन करने लगा । उसकी सहायता के लिये जो पाण्डव सेना साथ गई थी, वह अन्दर प्रवेश भी नहीं पा सकी । इसका कारण जयद्रथ था, जो मुख्य द्वार का रक्षक था और जिसने पाण्डव सेना को व्यूह के भीतरी भाग में प्रविष्ट नहीं होने दिया । अन्ततः कौरवों से युद्ध करता हुआ अभिमन्यु सात महारथियों के क्रूरता पूर्ण षडयंत्र का शिकार हुआ ।

अभिमन्यु की वीरता रोमांचकारिणी थी, तो हत्या अत्यंत हृदय-विदारिणी । पाण्डव-दल पर इस घटना से मानों वज्रपात हो गया, तो क्या कौरव-दल सुखी था? इस लाल सायंकाल में अभिमन्यु का निष्पाप लहू द्रोण, द्रौणि, कृप, कर्ण कृतवर्मा, दुर्योधन और दुःशासन सभी के सिर पर भूत की तरह सवार था । क्षत्रियों के स्थान में कसाई होते तो संभवतः चैन की नींद सो सकते । काम कसाइयों का-सा कर गुजरे थे, परन्तु हृदय को क्या करें? वह अभी कसाई न था । विजय पाई सही परन्तु किसने? एक निःशस्त्र बालक पर इतने धनुर्धरों की संयुक्त शर-वर्षा ने और वह भी सीधे, सामने से आकर, वीर की तलवार से लोहा लेकर नहीं, दुःशासन-सुत की गदा की आड़ में । कमानें कड़क-कड़क कर कह रही थी, विजय अभिमन्यु की हुई है । गदा लज्जित थी कि किस गीदड़ के हाथों में सिंहसुत के सिर गिरी हूँ । जीते अभिमन्यु ने इनकी भुजाओं को हराया था । मरे अभिमन्यु ने हृदयों को हिला दिया ।

अर्जुन सायंकाल को संशप्तक-युद्ध से लौटकर जब शिविर में आया तो अभिमन्यु वध का समाचार मिला । उसने तुरन्त ही जयद्रथ को मारने की प्रतिज्ञा कर ली । जयद्रथ ही चक्रव्यूह का द्वार रक्षक था और उसके कारण ही पाण्डव सेना अन्दर प्रविष्ट नहीं हो सकी थी ।

यदि पाण्डव सेना अभिमन्यु के साथ रहती तो वह इस प्रकार नहीं मारा जा सकता था। अर्जुन का यह निश्चय रहा कि या तो वह एक दिन में ही जयद्रथ को मारेगा अथवा स्वयं अपना प्राणान्त कर लेगा।

अब द्रोणाचार्य ने चक्रव्यूह की रचना जयद्रथ की रक्षा के लिये की। जयद्रथ को एक केन्द्र स्थान पर छिपाया गया और कौरव पक्ष के सब महारथी प्राचीर की तरह उसकी रक्षा करने लगे। ऐसी परिस्थिति में शायद अर्जुन के लिये भी उस भीषण व्यूह को भेदकर जयद्रथ को मारना कठिन हो जाये, यह जानकर श्रीकृष्ण उपाय सोचने लगे। इस विचार विमर्श में ही रात्रि व्यतीत होने लगी। दूसरे दिन जयद्रथ वध के लिये घोर संघर्ष हुआ। दोनों पक्षों के सैंकड़ों महारथी हताहत हुये। अन्ततः अपने रण-कौशल से सूर्यास्त से पूर्व ही जयद्रथ को मार डाला।

(17)

घटोत्कच व द्रोणवध

जयद्रथ के वध से कौरव पक्ष बहुत ही बौखला गया। रात्रि को भी युद्ध जारी रखा गया। कर्ण ने पांडव सेना का बहुत संहार किया। कर्ण का सामना करने को अर्जुन जाने लगा। तो श्रीकृष्ण ने दिन भर का थका होने से उसे रोक दिया। भीम पत्नी हिडिम्बा से उत्पन्न घटोत्कच बड़ा वीर युवक था। उसने मोर्चा संभाला। श्रीकृष्ण ने उसे जाने दिया। घटोत्कच बड़ी वीरता से लड़ा पर अन्त में कर्ण द्वारा शक्ति प्रहार से मारा गया। सभी को घोर कष्ट हुआ किन्तु श्रीकृष्ण को इस विचार से संतोष हुआ कि दिन भर के थके अर्जुन को वे इस शक्ति-प्रहार से बचा सके। अर्जुन कृष्ण की दाहिनी भुजा थी। कृष्ण

सोचते थे, अर्जुन करता था।

यों यह ज्ञान और कर्म का अद्‌भुत मेल था। इसी मेल पर भारत-साम्राज्य की स्थापना निर्भर थी। रात्रि के इस युद्ध में कौरव-सेना की बड़ी हानि हुई। दुर्योधन को लगा कि आचार्य द्रोण पूरे मन से नहीं लड़ रहे। पाण्डवों पर उनकी कृपा-दृष्टि है। आचार्य द्रोण युद्ध तो पूरे मनोयोग से ही कर रहे थे। हाँ, उन्होंने ऐसे अस्त्रों का प्रयोग अभी तक नहीं किया था जिनका उपयोग पाँडव-पक्ष वाले नहीं जानते थे। अतः उनका युद्ध अब तक धर्म युद्ध था। परन्तु दुर्योधन के सन्तोष के लिये आवेश में आकर वे प्रतिज्ञा कर बैठे—"पुण्य हो या पाप अब विशेष अस्त्रों (दिव्यास्त्रों) का उपयोग करूँगा।"

समय का फेर देखिये वेदज्ञ द्रोण आज अधर्म का संकल्प लेकर युद्ध-क्षेत्र में जूझ रहा है। उसने असंख्य पाण्डव सेना का संहार तो किया ही धृष्ठधुम्न पर भी उसी कूटनीति का प्रयोग किया। समस्या श्रीकृष्ण के समक्ष उपस्थित है। द्रोणाचार्य आज न किसी नियम के वश में है, न नियन्ता के। श्रीकृष्ण ने सोचा कि ब्राह्मण के हाथ में धर्म की नकेल है। यदि उसने अपने हाथों वह नकेल तोड़ दी तो धर्म रहा ही कहाँ? धर्म तो नाम ही संयम का, काबू का, नकेल का है। द्रोण ने पाप का सहारा लिया है। उसी पाप द्वारा उसका हनन होना चाहिये। यह द्रोण की लठिया है, इसी से इसका सिर कूटो। द्रोण जहाँ विद्वान है, शूर है, वेदज्ञ है, वहाँ उसकी दुर्बलता है—सन्तान मोह। कोई उसे सुना दो तेरा पुत्र मर गया। बस वहीं हथियार डाल देगा।

श्रीकृष्ण ने अपने निजी अनुभव से यह युक्ति सुझाई थी। शाल्व-वध के प्रसंग में पितृ-मरण के असत्य समाचार से वे भी अचेत हो गये थे। द्रोण की अनीति का उत्तर देने की यह युक्ति भीम को खूब जँची। उसने कुछ देर सोचा और झट से अपनी सेना का 'अश्वत्थामा' नामक हाथी मरवा डाला। पांडव सेना में शोर पड़ गया—"अश्वत्थामा

मर गया।''ध्वनि की गूँज द्रोण के कानों को भी टकराई परन्तु उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ। इसी समय भीम ने एक कोने में खड़े होकर द्रोण को धिक्कारा—ब्राह्मण का धर्म अहिंसा है, विशेषतया आप जैसे वेद-मर्मज्ञ ब्राह्मणों का। अरे द्रोण! तू तो चाण्डाल बन गया जो इतने मानव-प्राणों का संहार कर रहा है। और फिर उन लोगों का भी जो तेरे प्रयुक्त अस्त्रों को चलाना नहीं जानते? अरे, जिसके लिये तू यह पाप कमा रहा है वह अश्वत्थामा तो मरा पड़ा है।

स्वयं धर्मराज युधिष्ठिर इसका समर्थन कर रहे हैं। द्रोण भी आखिर विद्वान् था सारी आयु धनुर्वेद शास्त्र का ही उपदेश किया था। युद्ध के आचार शास्त्र का स्वयं अपने ही हत्यारे हाथों द्वारा हनन उसे असह्य हो उठा। उसे लगा जैसे यह ध्वनि भीम की नहीं शास्त्र प्रणेता आचार्यों की है। द्रोण का अन्तर उसे धिक्कारने लगा—द्रोण! तू धर्म द्रोही है। अरे! तूने अनभिज्ञों पर दिव्य अस्त्र चला दिये। द्विजाधर्म! इस कुत्सित कर्म से रुक जा। द्रोण के हाथों ने शस्त्र उठाने से मानो इनकार कर दिया। पुत्र शोक और आत्म-धिक्कार की स्थिति में वे वहीं रथ में ध्यानावस्थित प्रायः हो गये। धृष्ठधुम्न ने जो अवसर देखा तो तो आचार्य की ओर लपका। अर्जुन ने व्यर्थ ही आचार्य को बचाने की चेष्टा की। द्रोण का सिर प्रथम वार में ही भूलुण्ठित हो चुका था।

(18)

अर्जुन का धर्म संकट—कर्णवध

द्रोण के पश्चात् कर्ण कौरव सेनापति बना। उसने घनघोर युद्ध कर पाण्डवों के छक्के छुड़ा दिये। उस दिन युधिष्ठिर भी उसके हाथों से अति पीड़ित हुए। वे मैदान छोड़कर शिविर में आ गये। अर्जुन को जब युधिष्ठिर युद्धक्षेत्र में दिखाई न दिये तो वह घबराया और युधिष्ठिर का पता लगाने शिविर में आया। युधिष्ठिर अपनी पराजय

से जले कटे बैठे थे। जब अर्जुन उनके शिविर में आये तो वे कर्ण वध का समाचार सुनने के लिए बहुत उत्सुक थे। जब उन्हें पता लगा कि कर्ण अभी जीवित है तो उन्होंने अर्जुन को बहुत फटकारा और यहाँ तक कह दिया कि तेरे गाण्डीव को धिक्कार है, तू उसे किसी अन्य बलशाली राजा को सौंप दे। यह तुझे शोभा नहीं देता।

गाण्डीव का नाम सुनते ही अर्जुन ने तलवार निकाली। श्रीकृष्ण समझ गये कि दाल में कुछ काला है। श्रीकृष्ण ने कहा कि पितृ तुल्य भाई की हत्या करोगे? चलो 'सत्य प्रतिज्ञ तो कहलायेंगे? अरे, यदि तुम्हें युधिष्ठिर की हत्या ही करनी है तो उन्हें 'आप' की बजाय 'तुम' कहकर पुकार लो। इन्हें जली-कटी सुना दो। मान्य पुरुष के निकट यही मृत्यु है। अर्जुन ने जी भरकर युधिष्ठिर की निन्दा की। अब आत्म-ग्लानि से अर्जुन ने आत्म-हत्या करने के लिए पुनः तलवार उठाई तो श्रीकृष्ण ने कहा कि आत्म प्रशंसा करलो, क्योंकि अपने मुँह से अपनी प्रशंसा ही सज्जनों के लिए मृत्यु के समान है। अब अर्जुन ने खूब आत्मशलाघा की। उधर युधिष्ठिर अर्जुन के इस उच्छृंखल व्यवहार को देखकर बन जाने के लिए तैयार हो गये। यह क्या? अर्जुन की आँख जो अब तक आग बरसा रही थीं, झट पानी बरसाने लगीं। आषाढ़ की धूप ने सावन की बदली का रूप धारण कर लिया। जाते हुए भाई के पाँव पकड़ लिये। श्रीकृष्ण भी इस अनुनय में उसके साथ हो गये। दोनों भाइयों का रोष आँसुओं की धारा ने आन की आन में शांत कर दिया। युधिष्ठिर ने अर्जुन को उठाया और बाहु पकड़ कर गले लगा लिया। आँसुओं ने चुपके से कृष्ण की नीतिमत्ता को धन्यवाद की बलि पेश की। युद्ध की विजय से यह विजय कहीं अधिक महान् है। दो फटे दिल मिला दिये गये हैं।

अब कर्ण और अर्जुन आमने सामने थे। कर्ण की सारी आयु का क्रोध इसी अवसर के लिए संचित था। उसने दाँत पीसकर अर्जुन पर वार किये। अर्जुन ने भी सारी शक्ति कर्ण की हेकड़ी हटाने पर केन्द्रित

कर दी। दोनों वीर आक्रमण तथा आत्म-रक्षा के विचित्र-विचित्र दाव खेल रहे थे। दोनों सेनायें चकित हो इस द्वन्द्व-युद्ध का अवलोकन कर रही थीं। इतने में कर्ण ने एक सर्पाकार बाण प्रत्यंचा पर चढ़ा ऐसा फेंका कि समस्त दर्शक-दल चिन्तित हो उठा। यहाँ कृष्ण का सारथित्व काम आया। उसने घोड़ों की बाग़ को नीचे खींच उन्हें जानुओं पर बैठा दिया।

इससे रथ नीचा हो गया और उसके पहिये पृथ्वी में गड़ गये। तीर अर्जुन के सिर पर से गुजरा और उसका मुकुट—जिससे वह किरीटी कहलाता था—सिर से उतर कर पीछे जा पड़ा। अर्जुन का सिर बाल-बाल बच गया। अर्जुन ने मुकुट की जगह रूमाल बांध लिया। कृष्ण रथ से उतरे और पहियों को पृथ्वी से निकाल फिर अपने सारथी-कर्म में लग गये। युद्ध के नियमानुसार इस समय कर्ण को लड़ना छोड़ देना चाहिये था। परन्तु उसने ऐसा किया नहीं। थोड़ी देर में अर्जुन के तीरों से वह स्वयं मूर्च्छित हो गया। अर्जुन ने उसकी इस व्यथा से लाभ न उठाकर उसे सचेत होकर लड़ने का अवसर दिया। यह अर्जुन की उदारता थी। इतने में कर्ण के रथ का पहिया पृथ्वी में धंस गया। उसने अर्जुन को संग्राम धर्म की दुहाई दी। कर्ण चिल्लाया कि निहत्थे पर वार करना धर्म नहीं है। इस पर नीतिज्ञ कृष्ण जो अभी-अभी अर्जुन की भोली उदारता को देख चुके थे स्वयं बोले, अरे कर्ण! अब 'धर्म-धर्म' चिल्लाता है परन्तु ओ कर्ण!—

जब भीम को विष-युक्त भोजन दिया गया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? जब लाक्षगृह निर्माण कर उसके अन्दर-ही-अन्दर पाण्डवों को कुन्ती समेत भस्म करने का प्रयल किया गया था, तब तुम्हारा धर्म कहाँ था? एकवस्त्रा द्रौपदी को घसीट लाते समय तुम्हारा धर्म कहाँ था? तेरह वर्ष का वनवास पूरा कर चुकने पर भी जो तुमने पाण्डवों का राज्य उन्हें नहीं दिया, उस समय यह धर्म की दुहाई चुप हो कहाँ

दुबक गई थी? पापी लोग हमेशा दैव को कोसते हैं, कुकर्म को नहीं। अकेले अभिमन्यु को, जो तुम लोगों के पुत्र के तुल्य था, छः महारथियों ने मिलकर मार दिया। आज वे ही आततायी लोग धर्म की दुहाई देकर चाहते हैं कि उनको विपत्ति में देख उन पर दया की जाये। ऐसे लोगों को धर्म का नाम जुबान पर लाते लज्जित होना चाहिये। धर्म तो जीवन का भूषण है केवल युद्ध के लिए ही थोड़ा विहित है।

इतना कह कर उन्होंने अर्जुन को आदेश दिया कि इस प्रकार दल-दल में फँसे हुए कर्ण का वध करना पुण्य है और दूसरे ही क्षण कर्ण आहत हो गिर गया।

(19)

दुर्योधनवध

दूसरे दिन शल्य सेनापति बनकर युद्ध में गया, वह महाराज युधिष्ठिर के हाथों मारा गया। राजा दुर्योधन भाग गया और एक वन में जाकर छिप गया, परन्तु मृत्यु कब अवसर देती थी। पांडव पीछा करते हुए वन में पहुँचे और उन्होंने दुर्योधन के स्थान का पता लगा लिया। युधिष्ठिर ने जोर से पुकार कर दुर्योधन को कहा–

हे दुर्योधन! स्त्रियों की तरह छिपकर अपने वंश को क्यों कलंकित करता है। बाहर आ, युद्ध कर, यदि तू हममें से एक को भी लड़ाई में मार डाले तो हम सब राजपाट तुझे सौंपकर जंगल को चले जावेंगे।

युधिष्ठिर की इस उदारतापूर्ण मूर्खता से दुर्योधन को मनचाही बात मिल गई। वह तुरन्त गदा लेकर बाहर निकल आया और गदा युद्ध के लिए पांडवों को ललकारने लगा। श्री कृष्ण को युधिष्ठिर की

यह वज्र मूर्खता बहुत बुरी लगी और उन्होंने फटकारते हुए कहा कि हम में भीमसेन के अतिरिक्त कोई नहीं है जो गदायुद्ध में दुर्योधन को जीत सके तुमने वचन देकर कि चाहे जिस पांडव से युद्ध करले, एक महान् भूल की है। यह तो एक दूसरा जुआ ही हो गया। दुर्योधन बड़ा चालाक और धूर्त है। गदायुद्ध में उसे जीतना पांडवों के लिए आसान नहीं है। अन्त में महाराज ने क्रोधाविष्ट होकर यहाँ तक कह दिया कि पांडु और कुन्ती की सन्तान भीख माँगने और वन में फिरने के लिए ही उत्पन्न हुई है, राज्य भोगने के लिए नहीं। यह हमें आज निश्चय हो गया।

भीम ने कृष्ण और युधिष्ठिर को गदा युद्ध में दुर्योधन को परास्त करने का आश्वासन दिया और उससे भिड़ गया। अंत में भीम ने अवसर पाते ही दुर्योधन की जांघ पर ऐसी गदा जमाई कि वह घायल होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसके गिरते ही भीमसेन ने उसके सिर पर एक लात मारी। कृष्ण ने कहा – मरे धूर्त को और क्या मारना? इस पर दुर्योधन को क्रोध आ गया। उसने कृष्ण को खूब जली-कटी सुनाईं। उसने कहा–

भीष्म का कूटविधि से वध अर्जुन से कराने वाले तुम ही तो हो। द्रोण की मृत्यु के लिए असत्य-भाषण की मंत्रणा देने वाले तुम ही तो हो। जयद्रथ को मरवाने वाले तथा भूरिश्रवा का सिर उसकी योगावस्थित स्थिति में कटवा देने वाले और फिर कर्ण पर आपत्ति में वार कराने वाले तुम्हीं तो हो। अब यदि तुम्हारी सलाह से अर्जुन ने भीम को इशारा कर गदा-युद्ध के नियमों के विरुद्ध मेरी भी रान तुड़वा दी तो इसमें आश्चर्य ही क्या है? मैं इतने नियमों के भंग का दोष अकेले तुम्हारे सिर पर धरकर तथा तुम सबको नारकीय बनाकर स्वर्ग चला हूँ।

श्रीकृष्ण ने दुर्योधन को वही उत्तर दिया जो वे इससे पूर्व कर्ण को दे चुके थे। इतने में दुर्योधन ने आँखें मीच लीं और परलोक के प्रस्थान की तैयारी करते-करते कहा–

हमें तो क्षत्रियोचित गति प्राप्त हो गई। इसी दिन के लिए क्षत्रिय-पुत्र संसार में आता है। रहे युद्ध के अनिष्ट परिणाम, इनका भार उन्हें उठाना होगा जो पीछे रहेंगे।

दुर्योधन को मरा जान कर पांडवों के हर्ष की सीमा न रही। उन्होंने खूब हर्ष मनाया और भीमसेन को उसके इस कार्य के लिए साधुवाद दिया। वे भूमि पर गिरे हुये दुर्योधन को भी बुरा भला कहने लगे और उसे जली कटी सुनाकर अपने मन का गवार निकालने लगे। श्रीकृष्ण जैसे आदर्श पुरुष को भीम का यह कार्य उचित नहीं जान पड़ा कि युद्ध में पतित शत्रु को कटु वाक्य कहकर जलाया जाये। श्रीकृष्ण ने कहा–

मरे हुए शत्रु को वचनों से मारना उचित नहीं। यह पापी तो उसी समय मारा गया था, जब इसने लज्जा छोड़ दी। अब इस मूर्ख को कठोर वचन सुनाने से क्या लाभ?

(20)
अन्तिम दृश्य

जब पांडव दुर्योधन को रणभूमि में छोड़कर वापस चले गये तो उसकी सेना के तीन बचे हुए सेनापति अर्थात् अश्वत्थामा (द्रोणपुत्र) कृपाचार्य और कृतवर्मा उसके पास आये। परमात्मा ने उसको इसलिये अब तक जीता रक्खा था कि वह अपनी मूर्खता का परिणाम अच्छी तरह से देख समझ और अनुभव कर अपना प्राण छोड़े। हा! वह कैसा भयानक और शिक्षाप्रद दृश्य था। कौरव वंश का अधिपति, इन्द्रप्रस्थ के राजा का पुत्र और उसकी यह अवस्था, ऐसे अवसर पर तो शत्रु भी रो देता है। अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि को तो रोना ही था।

रोने-धोने के पश्चात् अश्वत्थामा ने दुर्योधन से अपने विचार प्रकट किये। बदला लेने की आग उसके हृदय में वेग से जल रही है और उसने दुर्योधन से बदला लेने की आज्ञा माँगी। दुर्योधन ने कृपाचार्य आदि की ओर लक्ष्य करके उस समय अश्वत्थामा को अपनी सेना का सेनाध्यक्ष निश्चित किया और उसको युद्ध जारी रखने की आज्ञा दी और स्वयं अन्तिम श्वास ली।

कौरव सेना के ये तीनों बचे हुए वीर आपस में विचार करने लगे कि किस प्रकार से इस अभिलाषा को पूरा किया जावे। कृपाचार्य ने तो धर्म का युद्ध लड़ने का परामर्श दिया। परन्तु अश्वत्थामा ने रात को धोखे से युद्ध करने का विचार प्रगट किया। कितना ही कृपाचार्य ने समझाया। ऐसा करना घोर पाप है। ऐसे महापाप के कार्य से तेरी आत्मा घोर नरक में पड़ेगी जिससे छुटकारा पाना कठिन होगा। जीवन की अन्तिम अवस्था में इस प्रकार की भीरुता का कार्य वीरता तथा प्रतिष्ठा पर बट्टा लगावेगा। सारी आयु की कीर्ति, यश, प्रसिद्धि पर पानी फिर जायेगा। ब्राह्मण सन्तान तथा शस्त्र विद्या में निपुण होकर तेरे लिये यह योग्य है, कि तू इस प्रकार के पाप से अपने पवित्र जीवन पर धब्बा न लगावे।

अश्वत्थामा पर इस धार्मिक वक्तृता का कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। वह बदले की आग में भस्म होता हुआ चुपके से रात को पाण्डव शिविर में घुस गया। सबसे पहले तो सीधा पांचाल के राजा धृष्टधुम्न के डेरे की ओर, जिसने उसके पिता को मारा था बढ़ा और उसके रक्त में हाथ रंग कर फिर छोटे बड़े पर हाथ साफ करने लगा। पांचाली की छावनी द्रौपदी के जायों की ननसाल थी। वे भी वहीं सो रहे थे। अन्य रथियों, महारथियों के साथ इस बेखबरी के युद्ध में वे भी काम आये। इस सुप्त-संहार से बचे—पांच पाण्डव, श्रीकृष्ण और सात्यिकि। इस प्रकार जहाँ कल की प्रलयंकारी लड़ाई में कौरव-दल के तीन महारथी जहाँ कल की प्रलयंकर लड़ाई में बच गये थे, वहाँ आज के गुप्त छापे में

पाण्डव-सेना के भी केवल सात महायोद्धा बचे रहे। शेष सभी अपने-अपने पंचतत्व के शरीर को तत्वों में मिलाते हुए संसार से विदा हो चुके थे? किसी को पता भी न लगा कि वे कहाँ गये और क्या हुए?

(21)

युधिष्ठिर का राज्याभिषेक व अश्वमेध यज्ञ

युद्ध के समाप्त होते ही पाण्डवों ने कृष्ण को हस्तिनापुर विदा किया जिससे वह वहाँ जाकर युद्ध की पूरी अवस्था से धृतराष्ट्र को सूचित कर दें। यह कठिन कार्य किसी साधारण पुरुष के करने का नहीं था। कृष्ण हस्तिनापुर पहुँचे। धृतराष्ट्र और उनकी धर्मपत्नी गांधारी दुःख में रोती-पीटती थीं। कृष्ण ने उन्हें दुर्योधन के दुराग्रह की याद दिला कर किसी प्रकार शांत किया। सन्तोष दिलाया। अन्त में गांधारी ने अपने मृत पुत्रों के दर्शन की अभिलाषा प्रकट की और राजा रानियों के सहित रणभूमि की तरफ चले। वहाँ पहुँचकर जो दृश्य रानियों, महारानियों ने देखा वह असह्य था। रानियाँ देखती थीं और रोती थीं। सारी प्यारी सूरतें रक्त में लिपटी हुई एक दूसरे के ऊपर पड़ी हुई थीं। बहुतेरों को तो जानवरों ने पहचानने के योग्य ही नहीं रक्खा था, परन्तु बहुतेरे अभी पहचाने जा सकते थे।

अपने-अपने संबंधियों को देखकर स्त्रियाँ रोती थीं। गांधारी अपने बेटों को देखकर रोती थी और कुन्ती अपने पोतों के लिये रोती थी। सारे वंश में कोई स्त्री ऐसी नहीं थी जिसके लिये इस युद्ध में सिर पीटने और चिल्लाने के लिये सामग्री न थी। उत्तरा का विलाप तो अतीव रोमांचकारी था। इस स्थिति में वैराग्यवृत्ति का उद्रेक स्वाभाविक था। युधिष्ठिर की प्रकृति में वैराग्य की वृत्ति का प्राबल्य

था। उसे सबसे अधिक शोक हुआ। उसकी उदासी की सीमा न थी। उसने राज्य करने से इन्कार कर दिया। कितना ही उसके भाई समझाते थे परन्तु वह नहीं मानता था। यहाँ तक कि स्वयं धृतराष्ट्र और गांधारी ने भी युधिष्ठिर को बहुत समझाया परन्तु उसने अपने मन्तव्य पर दृढ़ता प्रगट की। वह यही कहते थे कि सारे भाई-बन्धुओं और बड़ों के रक्त में हाथ रंग कर अब क्या राज करने में मुझे सुख हो सकता है? मेरे लिये अब यही उचित है कि तप करके अपने पापों का प्रायश्चित करूँ और शेष जीवन परमात्मा की याद में अर्पण करके अपनी आत्मा को दुःख व क्लेश से बचाऊँ।

अन्त में श्रीकृष्ण ने ही क्षात्र धर्म के नाम पर युधिष्ठिर से अपील की और उसको वश में किया। कृष्ण का यह अमोघ अस्त्र था। अपने समय में दर्शन और वर्ण धर्म के विषय में वह ऐसे निपुण थे कि उनकी व्यवस्था कभी खाली नहीं जाती थी। उनके सामने झूठे त्याग के विचार भागते ही दिखाई देते थे। वैदिक धर्म के पृथक्-पृथक् भावों को वह ऐसा मिलाते थे कि एक श्रेणीबद्ध प्रमाणित दृश्य तैयार कर देते थे। प्राचीन शास्त्रों, ऋषियों व मुनियों की मर्यादा में ऐसे निपुण थे कि जहाँ उन्होंने प्रमाण देने आरम्भ किये वहाँ सिवाय मानने के और कोई चारा बाकी न रहता था। अतः युधिष्ठिर गद्दी पर तो बैठ गये परन्तु उदास रहने लगे।

फिर कृष्ण ने उसको अश्वमेध यज्ञ करने के लिए तैयार किया और अश्वमेध यज्ञ की तैयारियों में पाण्डवों को लगाकर स्वयं मातृभूमि द्वारिका को चले गये। आसाम, मणिपुर, काशी, कौशल, अंग, किरात, तंगण आदि में प्रवेश करता हुआ अर्जुन द्वारावती पहुँचा। द्वारावती से पंचनंद और पंचनंद से गांधार प्रयास कर अर्जुन ने भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर अपनी विजय-यात्रा की इति श्री की। कुछ स्थानों पर सामान्य मुठभेड़ भी हुई, परन्तु युधिष्ठिर के आदेशानुसार कहीं रक्तपात नहीं हुआ।

वास्तव में अश्वमेधयज्ञ किया ही इसलिये गया था कि

महाभारत के युद्ध से जो भारत दो भागों में बँट गया था, वह फिर से एक हो जाये। अनेक राष्ट्रों के राजाओं की हत्याओं आदि से जो पाण्डवों के विरुद्ध, असंख्य राजवंशों के मनस्वी वीरों के हृदयों में गहरे घाव बैठ गये थे, उन्हें सान्त्वनापूर्वक भर दिया जाये। युधिष्ठिर को इस यज्ञ द्वारा यह दिखाना था कि पाण्डव बलवान तो हैं , परन्तु उनका बल अत्याचार के लिए नहीं, बिखरे हुए राष्ट्रों को मिलाने, उन्हें परस्पर प्रेमसूत्र में पिरो कर साम्राज्यरूपी एक माला के रूप में संगठित कर देने, उनकी बिखरी शक्तियों को एक दूसरे के विरोध में नष्ट न होने देने के लिये ही नहीं, किन्तु उन सब के संयोग से सारे भारतवर्ष को शक्तिशाली बनाने के लिए है। अश्वमेध की दक्षिणा में युधिष्ठिर ने सारा राज्य ही ब्राह्मणों को दे दिया। ऋत्विजों ने वह राज्य फिर लौटा दिया। इस क्रिया का अर्थ यह था कि युधिष्ठिर का साम्राज्य ब्राह्मणों की देन है। ब्राह्मण तपस्वी पण्डितों को कहते थे।

यह संज्ञा उन ज्ञानियों की होती थी जो विद्या के संसार के तो सम्राट् थे ही फिर उनका आर्थिक जीवन भी स्वतः अंगीकृत निर्धनता का होता था। ब्राह्मण, प्रजा की आवाज ही नहीं, उनका भावना-भावित हृदय भी थे। युधिष्ठिर ने उनके दान से, भिक्षादान से, सम्राट हो अपने आपको उन्हीं का ऋणी क्या बनाया दूसरे शब्दों में प्रजा के हृदयों की भावनाओं का अमानतदार बना, उनकी इच्छाओं के अनुकूल आचरण करने की प्रतिज्ञा की। साम्राज्य प्रजा की अमानत थी। श्रीकृष्ण को अब के अर्घ्य नहीं मिला परन्तु उनके जीवन का यह उद्देश्य कि सम्पूर्ण भारत एक ऐसे साम्राज्य-सूत्र में गूँथा जाये, जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपनी आन्तरिक राजनीति में स्वतंत्र हो, पूर्ण हो गया। विधाता की ओर से उन्हें यह दिव्य अर्घ्य मिला।

(22)

श्रीकृष्ण महाप्राण

इस युद्ध के समाप्त होने पर, कृष्ण 36 वर्ष तक निर्विघ्न्ता से द्वारिका में रहे परन्तु इस समय में उनकी जाति यादव वंशियों में घमण्ड, राग-द्वेष मदिरा पान आदि का अभ्यास इतना बढ़ गया कि कृष्णजी के अधिकार के बाहर यादववंशी हो गये। खुल्लम-खुल्ला आपस में लड़ाइयाँ होने लगीं। इन लड़ाई-झगड़ों में सब यादव बरबाद हो गये, यहाँ तक कि राजवंश में से केवल चार व्यक्ति शेष रहे अर्थात् श्रीकृष्ण, बलराम, दारूक और सात्यकि। कृष्ण यादवों की उच्छृंखलताओं से तंग तो रहते ही थे। जरासंध से यादवों की रक्षा की जा चुकी थी। जरासंध के झूठे साम्राज्य के स्थान पर युधिष्ठिर का मृदु सुन्दर साम्राज्य स्थापित कर दिया गया था। उसकी छत्र-छाया में यादवों का संघ फल-फूल सके, मुरझा न जाये, इसका प्रबन्ध पूर्णतया किया जा चुका था। परन्तु यदि यादवों की करनी ही कुछ ऐसी हो कि पाशविक बल का साम्राज्य हो तो भी और अपने अधीन प्रत्येक राज्य को प्रीतिपूर्वक आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करने वाला धार्मिक साम्राज्य हो तो भी। इनका नाश होना अवश्यम्भावी हो तो कृष्ण की बुद्धिमत्ता इसमें क्या करे?

इस प्रकार सम्पूर्ण साध्य संकल्पों से निवृत्त हो, श्रीकृष्ण ने वानप्रस्थ ले लिया और ज्ञान-ध्यान में मस्त रहने लगे। इसी अवस्था में एक दिन किसी दूर खड़े शिकारी के तीर से घायल हो प्राण छोड़ने को उद्यत ही थे कि वह बेचारा भ्रान्ति का मारा चरणों में आ पड़ा। उसे पश्चाताप था कि किस महात्मा को मृग समझ, उसके पवित्र प्राणों का घातक हुआ हूँ। श्रीकृष्ण ने हँसते-हँसते उसे अभय-दान दिया, उसका अनजाने में किया अपराध क्षमा किया और यह उदारतम मनोवृत्ति उनके अपने कहे गीता के आदर्श के सोलहों आने अनुकूल थी।

वे पूर्ण स्थितप्रज्ञ थे। जिये तो शत्रुओं पर विजय पाते रहे। मरे

तो मृत्यु पर विजय पाई। अर्जुन ने उनके देह का दाह करवाया। चन्दन और विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्य चिता पर डाले गये। इससे चिता महक उठी। परन्तु कृष्ण की विशेष महक उनके सत्कार्यों की अमर कीर्ति थी, जो अब तक चारों ओर फैल रही है और संसार में धार्मिक शासन की आवश्यकता के साथ-साथ फैली रहेगी।

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि योगिराज श्रीकृष्ण के जीवन की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ क्या थीं? श्रीकृष्ण के जीवन का गम्भीर अध्ययन एवं अनुशीलन करने के उपरांत हम इस निष्कर्ष व निचोड़ निकालते हैं कि उनके जीवन की उल्लेखनीय उपलब्धियाँ अधोलिखित थीं–

(1) श्रीकृष्ण ने हमें गीता जैसा दार्शनिक ग्रंथ दिया जोकि संस्कृत साहित्य की अमर निधि है।

(2) श्रीकृष्ण ने महाभारत में पांडवों को विजय दिलवाई थी। यदि वे अपनी राजनीति चातुर्य का प्रयोग न करते तो पांडव विजयी नहीं हो सकते थे।

(3) उस समय भारतवर्ष में 2340 छोटे-छोटे राज्य थे जिनमें अफगानिस्थान, पाकिस्थान, बंगलादेश आदि भी शामिल थे। श्रीकृष्ण ने इन राज्यों को 9 भागों में बाँट कर केन्द्रीय शासित प्रदेश हस्तिनापुर और 8 माण्डलिक बनाये। इस प्रकार श्रीकृष्ण ने उन्हें संगठितकर महाराज युधिष्ठिर के झण्डे के नीचे लाकर खड़ा कर दिया और उन्होंने इस प्रकार चक्रवर्ती राज्य प्रदान किया।

(4) श्रीकृष्ण ने अत्याचारों एवं पापों का नाश करके धर्म की स्थापना की।

वस्तुतः योगिराज श्रीकृष्ण को योगेश्वर के नाम से पुकारा जाता है। योगेश्वर वह व्यक्ति जो तुरातीत अवस्था के पार कर चुका है। आज तक केवल निम्नलिखित छः व्यक्तियों को ही योगेश्वर पद प्राप्त है।

(1) शिवजी महाराज **(4) दत्तात्रेयजी महाराज**

(2) जनकजी महाराज **(5) योगिराज श्रीकृष्णजी महाराज**

(3) शुकदेव मुनिजी महाराज **(6) बाबा गोरखनाथजी महाराज**

श्रीकृष्ण जी ब्रह्मा, विष्णु, महेश, श्रीराम आदिशंकराचार्य, महर्षि दयानंद जी, स्वामी विवेकानंद जी आदि की भाँति महामानव थे। परन्तु यह बड़े दुःख व दुर्भाग्य का विषय है कि कई पौराणिक भाइयों ने श्रीकृष्ण को ग्वाला, माखनचोर, गोपियों का मतवाला बना दिया है। परन्तु उनका वास्तविक चरित्र महाभारत में अंकित किया गया है न कि पुराणों में। जैसे चमूपति जी लिखते हैं –

महाभारत श्रीकृष्णजी की सबसे पहली जीवनी है।

–योगेश्वर कृष्ण पृ० 28

अतः वे महापुरुष थे न कि ईश्वर के अवतार जिन्होंने अपना समूचा जीवन मानव सेवा में अर्पित कर दिया। अतः महर्षि दयानंद श्रीकृष्ण के चरित्र का वास्तविक वर्णन करते हुये लिखते हैं–

देखो! श्रीकृष्ण जी का इतिहास महाभारत में अत्युत्तम है। उनका गुण, कर्म, स्वभाव और चरित्र आप्त पुरुषों के सदृश है, जिसमें कोई अधर्म का आचरण श्रीकृष्ण जी ने जन्म से मरणपर्यन्त बुरा काम कुछ भी किया हो, ऐसा नहीं लिखा और इस भागवत वाले ने अनुचित मनमाने दोष लगाये हैं। दूध, दही, मक्खन आदि की चोरी लगाई और कुब्जा दासी से समागम, पर स्त्रियों से रासमंडल क्रीड़ा आदि मिथ्या दोष श्रीकृष्ण जी में लगाये हैं। इसको पढ़-पढ़ा, सुन-सुना के अन्य मत वाले श्रीकृष्ण जी की बहुत सी निन्दा करते हैं। जो यह भागवत न होता तो श्रीकृष्ण जी के सदृश महात्माओं की झूठी निन्दा क्यों कर होती।

–सत्यार्थप्रकाश 11वां सम्मुल्लास पृ० 336

लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेर-ओ-शायरी

लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. वैदिक उपनिषद्वाणी
2. वैदिक दर्शनवाणी
3. वैदिक महाभारत
4. वैदिक गीता
5. अमर धर्मग्रंथ
6. अमर नीतिग्रंथ
7. पुराणपरिचय
8. ईश्वरसिद्धि
9. राष्ट्रभाषा हिन्दी
10. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
11. महावीर हनुमान
12. योगिराज श्रीकृष्ण
13. आदिशंकराचार्य
14. आचार्य चाणक्य
15. दस गुरु
16. आर्यसमाज के महामानव
17. स्वामी रामतीर्थ
18. संस्कार
19. गीतांजलि
20. आर्यसमाज
21. ओ३म्
22. गायत्रीरहस्य
23. ज्ञानामृत
24. यज्ञ
25. संत
26. संतवाणी
27. सामान्य हिन्दी (भाग I-II)
    (सब कक्षाओं के लिये)
28. **Great Thoughts**
29. **General English (Part I to V)**
    (For All Classes)